योगविद्या

वर्ष 11 अंक 10
अक्टूबर 2022
सदस्यता डाकखर्च – रु100

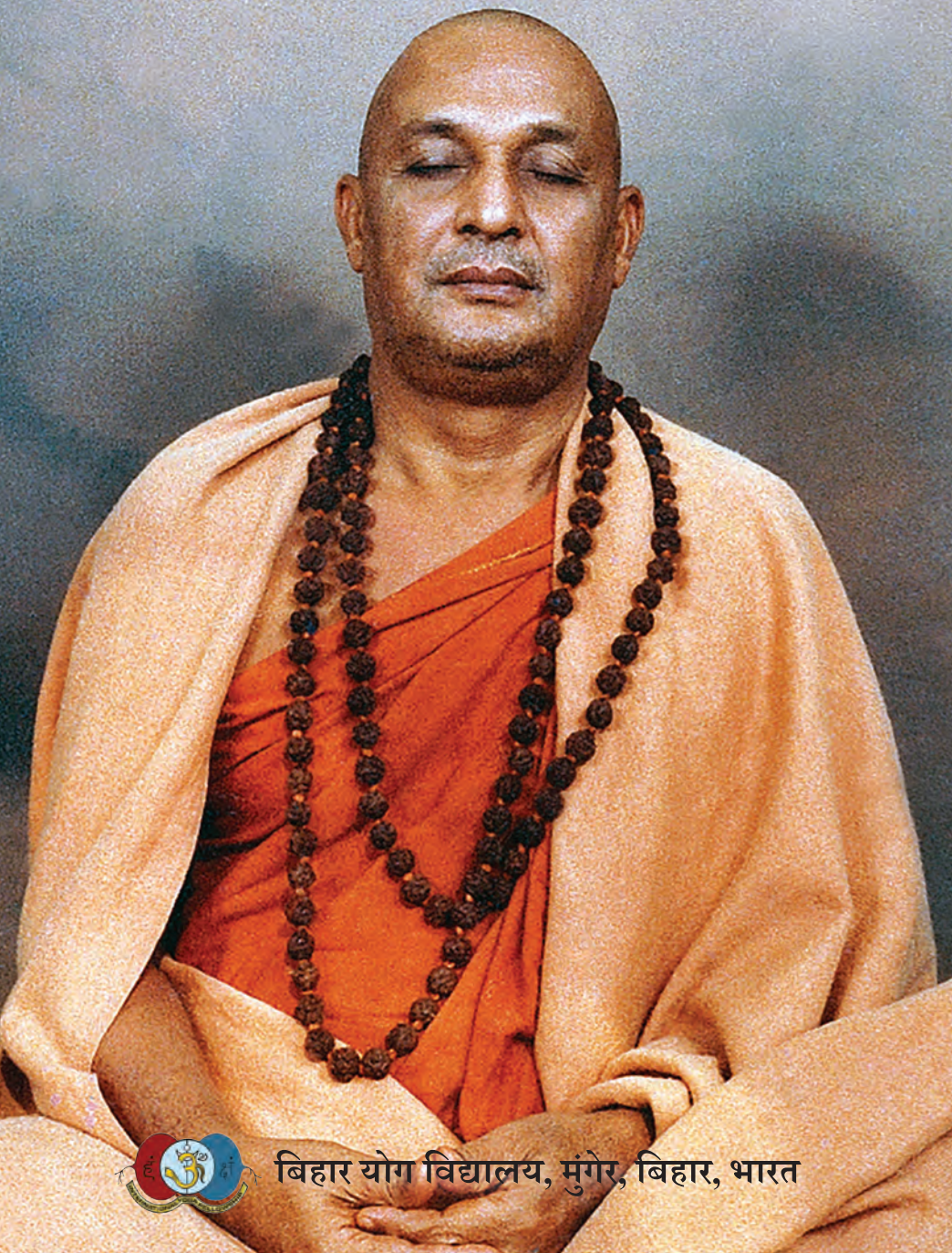

बिहार योग विद्यालय, मुंगेर, बिहार, भारत

हरि: ॐ

योगविद्या का सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के संन्यासी शिष्यों द्वारा स्वास्थ्य लाभ, आनन्द और प्रकाश प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों के लिए किया जाता है। इसमें बिहार योग विद्यालय, बिहार योग भारती, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट तथा योग शोध संस्थान के क्रियाकलापों की जानकारियाँ प्रकाशित की जाती हैं।

सम्पादक – स्वामी ज्ञानसिद्धि सरस्वती

योग विद्या मासिक पत्रिका है। देर से सदस्यता ग्रहण करने पर भी उस वर्ष के जनवरी से दिसम्बर तक के सभी अंक भेजे जाते हैं।

बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर, 811201, बिहार, द्वारा प्रकाशित।

थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड, फरीदाबाद, 121007, हरियाणा में मुद्रित।

© Bihar School of Yoga 2022

पत्रिका की सदस्यता एक वर्ष के लिए पंजीकृत की जाती है। कृपया अपने आवेदन अथवा अन्य पत्राचार निम्नलिखित पते पर करें –

बिहार योग विद्यालय
गंगा दर्शन,
फोर्ट, मुंगेर, 811201
बिहार

✉ अन्य किसी जानकारी हेतु स्वयं का पता लिखा और डाक टिकट लगा हुआ लिफाफा भेजें, जिसके बिना उत्तर नहीं दिया जायेगा।

कुल पृष्ठ संख्या : 56 *(कवर पृष्ठों सहित)*

कवर एवं अन्दर के प्लेट:
श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के प्रति गुरु-भाइयों की श्रद्धांजलि

अध्यात्म-संग्राम के विजयी महारथी!
मुक्ति की अभिलाषा रखकर निरन्तर नारायण की उपासना करने वाले संन्यासियों का हृदय प्राय: शुष्क और नीरस जान पड़ता है, किन्तु संन्यासी होकर अखंड ब्रह्मचर्य और निष्ठा के साथ संन्यास-धर्म का पालन करते हुए भी आपकी कविता और कला-विद्या में जो अपूर्व शक्ति है, इससे आपकी सरस प्रतिभा सर्वतोमुखी जान पड़ती है। मैं इस विशेषता को ईश्वर का अमर वरदान ही समझता हूँ। भाषा-जननी देव-वाणी संस्कृत भाषा में भी आपकी असाधारण योग्यता अति प्रशंसनीय है। अपनी दैहिक ममता का सम्पूर्ण त्याग कर कर्मयोगी के रूप में इस आश्रम की स्वार्थरहित पवित्र सेवा से आप केवल ऋषिकेश में ही नहीं, वरन् सारे भारत में अमर कीर्तिलाभ करने के एकमात्र अधिकारी हैं।

– श्री गिरिधारी मिश्रा, राष्ट्र-भाषा-रत्न

बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर–811201, बिहार के लिए स्वामी शिवध्यानम् सरस्वती द्वारा प्रकाशित एवं मुद्रित
मुद्रक – थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड, 18/35 माइलस्टोन, दिल्ली मथुरा रोड, फरीदाबाद–121007, हरियाणा
स्वामित्व – बिहार योग विद्यालय **सम्पादक** – स्वामी ज्ञानसिद्धि सरस्वती

योगविद्या

वर्ष 11 अंक 10 अक्टूबर 2022
(प्रकाशन का 60 वाँ वर्ष)

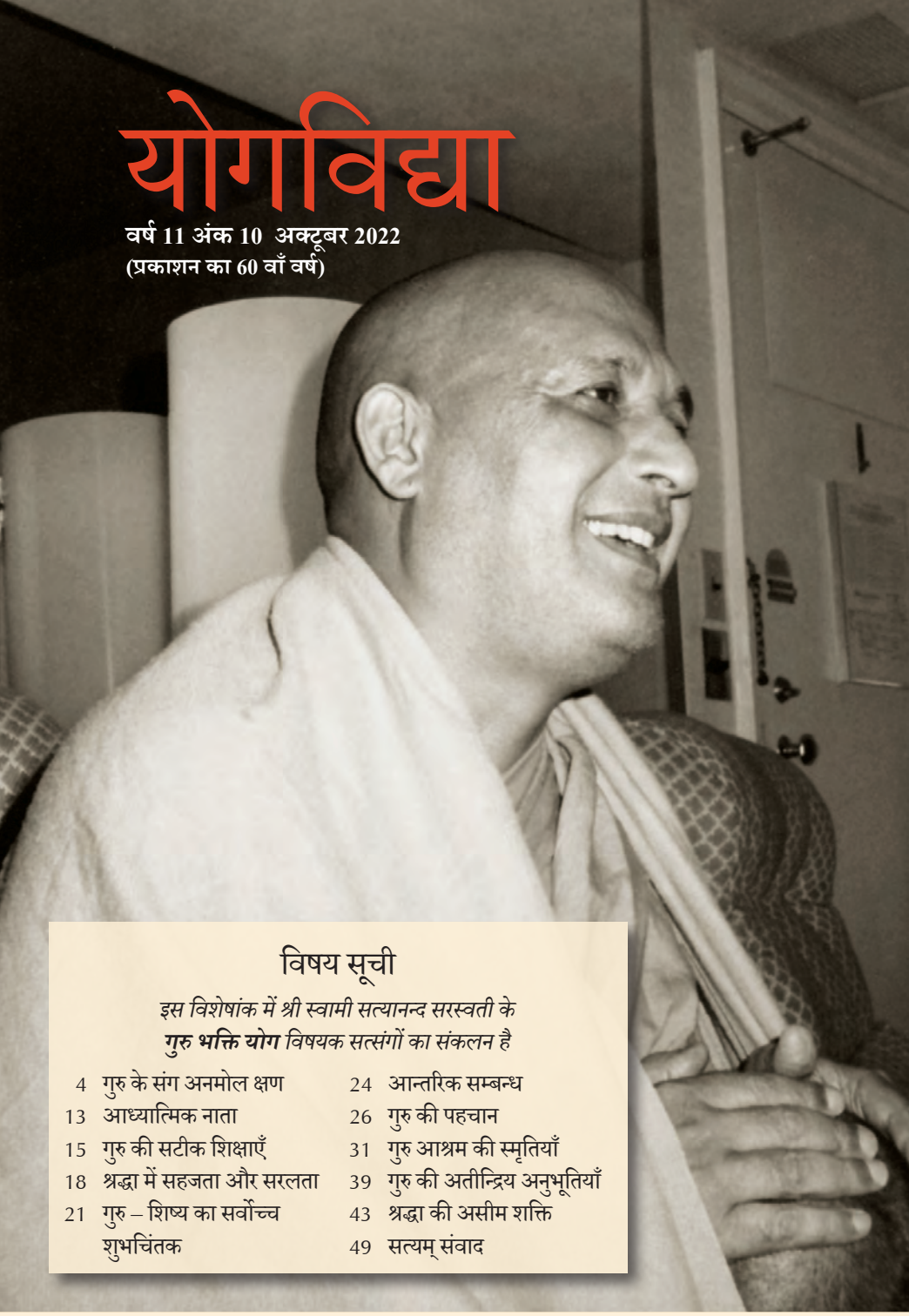

विषय सूची

इस विशेषांक में श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के
***गुरु भक्ति योग** विषयक सत्संगों का संकलन है*

4 गुरु के संग अनमोल क्षण
13 आध्यात्मिक नाता
15 गुरु की सटीक शिक्षाएँ
18 श्रद्धा में सहजता और सरलता
21 गुरु – शिष्य का सर्वोच्च शुभचिंतक
24 आन्तरिक सम्बन्ध
26 गुरु की पहचान
31 गुरु आश्रम की स्मृतियाँ
39 गुरु की अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ
43 श्रद्धा की असीम शक्ति
49 सत्यम् संवाद

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक:। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

गुरु के संग अनमोल क्षण

मुझे याद है जब सन् 1943 में मैं स्वामी शिवानन्दजी से पहली बार मिला। उनसे कहा कि श्री विष्णुदेवानन्दजी से आपका नाम सुनकर आया हूँ, फिर उन्हें सविस्तार अपनी कहानी सुनाई और संन्यास की इच्छा प्रकट की। उन्होंने मेरी बात सुनी और मुझे निष्काम सेवा का आदेश दिया। मैं उनके आश्रम में रह गया। आश्रम की दिनचर्या थी – अथक परिश्रम और अविराम साधना। वहाँ कर्म का महत्त्व ध्यान और कीर्तन से कम नहीं था। श्रम भी एक साधना होती है। उससे संस्कारों का क्षय होता है और मन को एकाग्रता मिलने लग जाती है।

सुबह-शाम रोज गंगा से 70-75 बाल्टी पानी भरकर लाना पड़ता था। मंदिर के लिए बेलपत्र से लेकर गारा-चूना और ईंट तक ढो-ढोकर लाना होता था। काली कम्बलीवाले के यहाँ से अपने और स्वामीजी के लिए राशन लाना भी दिनचर्या का एक अनिवार्य अंग था। टाइप करना, लेख लिखना, बंदरों और चोरों से आश्रम की रक्षा करना, फावड़ा चलाना, बर्तन माँजना, झाड़ू देना, खाना बनाना और खिलाना – क्या कुछ नहीं करना होता था? हर 8 सितम्बर को गुरुजी के जन्मदिन के अवसर पर भण्डारा हुआ करता था। उसके लिए एक हजार आदमियों का भोजन बनाने के लिए बड़े-बड़े आदमकद बर्तन थे। उनमें घुसकर बर्तन साफ करने पड़ते थे।

आश्रम में रात को रोज दो घण्टे अखण्ड कीर्तन का कार्यक्रम रहता था। कीर्तन की महिमा समझाते हुए गुरुजी अक्सर चैतन्य महाप्रभु के बारे में कहते

और कहते-कहते भाव-विभोर हो जाते। ललिता सहस्रनाम की साधना रात-रात भर चला करती। शाम के सात बजे से सुबह सात बजे तक सवा लाख जप पूरा करना पड़ता था। स्वयं स्वामीजी रातभर बैठकर जप करते और करवाते थे। गीता और महाभारत का पाठ कभी-कभी सुबह से शाम तक चलता। इसी क्रम में तमाम उपनिषदों की 108 आवृत्तियाँ हमलोगों ने पूरी कर लीं।

दरअसल आश्रम में हमारी हैसियत 'आध्यात्मिक स्वयंसेवक' की थी। बीमार स्त्रियों के कपड़े धोने और रोगियों के पैर दबाने तक का आदेश होता था। निन्दा करने वालों को नमस्कार करना होता था। मैं समझता हूँ कि अहं की ग्रंथि से आत्मा को मुक्त करने का इससे अच्छा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

कुष्ठ रोगी की सेवा

इस प्रसंग की एक घटना बतलाता हूँ। घटना का सूत्रपात हरिद्वार से होता है। अर्द्धकुंभ का मेला लगा हुआ था। हमारे आदरणीय गुरुभाई, स्वामी चिदानन्दजी उस मेले में गए हुए थे। एक दिन उन्होंने रास्ते में देखा कि बेल के पेड़ के नीचे एक आदमी पड़ा कराह रहा है। कुष्ठ रोग से उसका शरीर गल रहा है और अंग-प्रत्यंग पर मक्खियाँ भिनक रही हैं।

यह दृश्य देखकर चिदानन्दजी का हृदय भर आया। वे तुरंत आश्रम दौड़े चले आए। आकर मुझ से कहा, 'सत्यम्! एक मरीज देख आया हूँ। उसे जल्दी से आश्रम ले आना है। एक बोरा ले लो और झटपट चलो हमारे साथ।'

उनकी व्यग्रता ने कुछ पूछने-समझने का अवसर ही न दिया। और हम लोग अपनी सेवा-साधना के उस इष्ट-देवता को बोरे में लपेट कर आश्रम ले आए। पता चला, पहले वह एकदम भला-चंगा था। कुंभ-स्नान करते ही अचानक कुष्ठ ने धर दबाया।

हम दोनों की बुद्धि, कुंभ-स्नान और कुष्ठ के बीच सम्बन्ध नहीं जोड़ पा रही थी, पर हमारी बुद्धि के सामने उससे बड़ी समस्या यह थी कि चिकित्सा की व्यवस्था कैसे हो! दोनों गुरुभाइयों ने मिलकर हिसाब लगाना शुरू किया तो अनुमानित व्यय लगभग चार हजार की राशि तक जा पहुँचा। अब भला इतनी बड़ी राशि आए तो कहाँ से!

तभी खड़ाऊँ की खट्-खट् सुनाई पड़ी और स्वामी शिवानन्दजी सामने आ खड़े हुए। हमें देखकर हँसते हुए बोले, 'ठीक है, ठीक है, सेवा करो! सेवा करो!' और आगे बढ़ गए।

अब तक हम लोगों ने जो कुछ भी किया था, उनसे छिपाकर किया था। पर उनसे छिपाकर कुछ भी कर लेना संभव नहीं था। हारकर हम लोग अपनी समस्या लिए उनके पास जा पहुँचे और बात ही बात में उन्होंने चार हजार रुपए सामने रख दिए, जैसे पहले से तैयार बैठे हों।

अब शुरू हो गई सेवा की साधना। मैंने और चिदानन्दजी ने आपस में काम बाँट लिए। पर हमारा 'देवता' तो गाली से नीचे बात ही नहीं करता था। किसी काम में जरा देर हुई नहीं कि फूल झड़ने लगते थे, 'मैं आराम से बेल के पेड़ के नीचे पड़ा था, पर ये साले मुझे आश्रम उठा ले आए! क्या जरूरत थी यहाँ ले आने की?'

चिदानन्दजी एक दिन देवता की देह पोंछकर दवा लगा रहे थे। इसी क्रम में किसी जगह जरा दबाव पड़ गया और भले आदमी ने एक भद्दी-सी गाली के साथ उनके मुँह पर चट् थूक दिया। क्षमा माँगते हुए चिदानन्दजी बोल पड़े, 'क्षमा कीजिए भगवन्! भूल हो गई, अब फिर ऐसा नहीं होगा।' और देवता उबल पड़ा, 'साला, तमीज नहीं तो मुझे हाथ क्यों लगाता है . . .'

एक दिन मैं उसकी दाढ़ी बना रहा था। अनभ्यस्त हाथ जरा हिल गया और हल्का-सा खून निकल आया। उसने तुरंत मेरे गाल पर चाँटा रसीद कर दिया और गालियों की झड़ी लगा दी। मैं झल्ला उठा। चिदानन्दजी के पास जाकर बोला, 'आप सँभालिए अपने देवता को! मैं बाज आया ऐसी सेवा से!'

खैर सेवा होती रही। वर्षों की नियमित और विधिवत् चिकित्सा के बाद भी जिस आदमी का चंगा हो सकना कठिन था, वह दो महीने में स्वस्थ होकर एक दिन अचानक जाने कहाँ गायब हो गया।

तब से फिर कभी किसी ने उसे नहीं देखा। पर जाते-जाते वह बोल गया था, 'इस आश्रम में सब साले चोर हैं! बस एक शिवानन्द सच्चा साधु है और दूसरा चिदानन्द। थोड़ा-थोड़ा सत्यानन्द भी है . . .। मैंने सब सालों को देख लिया।'

आश्चर्य कि वह एक भी चीज अपने साथ नहीं ले गया। और गया तो ऐसा गया कि फिर कभी उसकी आहट तक न मिली। पता नहीं कौन था वह! कभी-कभी तो मुझे लगता है कि शायद स्वामी शिवानन्दजी ही संपूर्ण नाटक के सूत्रधार थे। उनका अचानक आकर 'सेवा करो, सेवा करो!' कहना और एक अज्ञात व्यक्ति के लिए चार हजार की रकम निकाल कर दे डालना, इस अनुमान को दृढ़ कर देता है। खैर, उस समय तक स्वामीजी उन ऊँचाइयों तक पहुँच चुके थे, जहाँ देश-काल की दाल नहीं गलती। किसी अज्ञात व्यक्ति की गोपन से गोपन कथा भी उनके लिए खुली हुई पुस्तक थी। रही रुपये दे डालने की बात, तो संभव है कि उनमें सत्पात्र की सेवा के सुख के साथ, अपने शिष्यों की परीक्षा लेने का भाव भी सम्मिलित रहा हो।

अहं की शल्यक्रिया

एक बार की बात है, एक बूढ़ा मुसाफिर कहीं से घूमता-भटकता आश्रम आ पहुँचा। भोजन करके अपनी थाली माँजने को हुआ तो मैं बोल उठा, 'रहने दो बाबा, रामधनी साफ कर लेगा।' भोजनालय की व्यवस्था मेरे जिम्मे थी और रामधनी भोजनालय में ही सेवक के रूप में नियुक्त था। सामान्यतः रामधनी को मेरे आदेश का पालन करना था, पर उस मुसाफिर की जूठी थाली साफ करने का प्रस्ताव सुनते ही वह अचानक बरस पड़ा, 'मैं जिस-तिस की जूठी थाली नहीं मलूँगा। मेरा हिसाब चुकता कर दीजिए। मैं घर चला जाऊँगा।'

उसके बर्ताव से मेरे अहं को ठेस पहुँची। मैंने उसका हिसाब साफ कर दिया और आश्रम का दरवाजा दिखाकर कहा, 'अभी निकल जाओ यहाँ से।'

जाने के पहले रामधनी शायद स्वामीजी से विदा लेने गया होगा। उन्होंने सारा प्रसंग सुना और कहा, 'ठीक है, सत्यम् ने तुम्हें निकाल दिया, पर मैंने तो नहीं निकाला। आश्रम से तुम्हें जाने की जरूरत नहीं, वह चाहे तो जा सकता है। तुम अभी से मेरे निजी सेवक हो, तुम्हें मेरे साथ रहना है।'

मैंने जब यह सुना तो सिर पीट लिया। कैसा भयंकर अपमान था यह! दूसरे दिन प्रातःकाल स्वामीजी के रातभर लिखे गए तमाम पृष्ठों को उनके कमरे से बटोरकर नियमित रूप से टाइप करने बैठा। कुछेक पृष्ठों के बाद अचानक हाथ रुक गए। स्वामीजी ने एक पूरी कविता लिख डाली थी, 'ओ संन्यासी! अहंकार का त्याग कर! त्याग कर! . . .'

कृतज्ञता से मेरी आँखें भर आयीं। मैं उनके आगे करबद्ध जा खड़ा हुआ। बोला, 'मुझ से भूल हो गई। मुझे क्षमा कर दीजिए। रामधनी जहाँ भी चाहे, मेरे साथ रहे। मैं उसके साथ रह कर काम कर सकता हूँ!'

दरअसल स्वामीजी अहंकार को संन्यासी का सबसे प्रबल शत्रु मानते थे और अपने शिष्यों को बचा ले चलने के क्रम में जरूरत पड़ने पर एक शल्य-चिकित्सक की तरह कठोरता की सीमा छू लेते थे। अब सोचता हूँ, कितनी करुणापूर्ण थी वह कठोरता!

आज्ञा-उल्लंघन का परिणाम

एक वर्ष हरिद्वार में अर्द्धकुंभ का मेला लगा हुआ था। लोग आ-जा रहे थे। सोचा, जरा मैं भी हो आऊँ, पर गुरुजी ने आदेश दिया, 'सत्यम्! कल पूजा है और प्रसाद तैयार करने का दायित्व तुम्हारा है। तुम मेला देखने नहीं जा सकोगे।'

पर मेरे भीतर जैसे कोई शिशु मचल उठा, 'जाऊँगा तो जरूर। अपना दायित्व पूरा करके जाऊँगा, और क्या?' आधी रात ही काम में जुट पड़ा। सुबह

तक सारा प्रसाद तैयार और आत्माराम कुंभ के मेले में! अचानक वहाँ भीड़ का एक रेला आया और मेरा उत्तरीय जाने कहाँ सरक गया। जिस किसी तरह घाट तक पहुँचा। पानी में उतरा, पर वहाँ भी लोग धँसे पड़ रहे थे। धोती का एक छोर किसी के पैर के नीचे आ गया। जब तक सँभलूँ स्नानार्थियों का एक जोर का रेला आया और धोती भी साफ . . . द्रौपदी का चीरहरण याद हो आया।

अब हाल यह है कि पानी में नंगा खड़ा हूँ और अपने हाल पर रोना आ रहा है। गुरुजी की वर्जना याद आ रही है, पर कोई सूरत नजर नहीं आती। इधर-उधर देखकर एक छलाँग लगाई और दौड़कर पैरों और घुटनों से अपनी लाज ढँकने की कातर चेष्टा करता हुआ एक पेड़ के नीचे जा बैठा। शायद उस पेड़ के नीचे किसी यात्री ने रात में लिट्टी लगाई थी। उसकी बची हुई राख काम आ गई। सारे शरीर में झटपट राख मलकर मैंने आँखें मूँद लीं। यह ध्यान नहीं, ध्यान का अभिनय था।

तीर्थयात्री सिद्ध नागा बाबा समझ कर मेरे आगे पैसे और पकवान फेंकने लगे। अंबार लग गया। पहर पर पहर बीत गए, पर कोई वस्त्रदाता नहीं आया। बड़ी देर बाद आँखें खोलीं तो एक परिचित व्यक्ति पर दृष्टि जा पड़ी। उसने मुझे पहचाना, पर विस्मित रह गया। मैंने कहा, 'अभी बात करने का समय नहीं। जल्दी से वस्त्र दो और मेरा त्राण करो। सारी बातें बाद में बताऊँगा।'

आश्रम लौटा तो स्वामीजी प्रवेश-द्वार पर खड़े थे। शायद मेरी ही प्रतीक्षा थी उन्हें। छूटते ही बोले, 'कहो सत्यम्! क्या हाल है? वस्त्रं देहि।' वे हँस रहे थे और मैं उनके चरणों में पड़ा कह रहा था, 'आपकी आज्ञा न मानने का फल मुझे मिल गया। अब आज क्षमा कर दीजिए। फिर कभी ऐसी गलती नहीं होगी।'

निष्कर्ष यह कि अपने शिष्य के हर क्षण पर स्वामीजी की जाग्रत दृष्टि का पहरा था। अधिक क्या कहूँ, मेरे सोने और जागने तक की खबर उन्हें रहती थी।

ब्रह्ममुहूर्त में जागरण

शुरू-शुरू में मैं एक नंबर का 'लेट राइज़र' था। यह बात स्वामीजी की नजर में आ गई। फिर क्या था! सुबह खड़ाऊँ खट्-खट् करते हुए वे आते और सबसे पहले मेरा दरवाजा पीट-पीट कर मुझे जगा देते। मैं जग जरूर जाता, पर ज्योंही वे आगे बढ़ते, मैं पूर्ववत् बिस्तर पर समाधिस्थ हो जाता।

आखिर यह बात भी उन्हें मालूम हो गई। और उन्होंने मेरे कमरे में सोने के लिए, बल्कि यूँ कहिए कि मुझ पर चौकीदारी करने के लिए, एक आदमी

को नियुक्त कर दिया। मेरी कठिनाई बढ़ गई, पर फैसला कर लेने पर कठिन क्या है? मैं सबेरे उठ जाता और उस आदमी को कोई जरूरी काम बताकर बाहर भेज देता। वह ज्योंही आँखों से ओझल होता, मैं आकर बिस्तर पर पड़ जाता और मन-ही-मन अपनी सफलता पर प्रसन्न होता।

पर स्वामीजी को यह भी पता चल गया। एक दिन वे बोले, 'सत्यानन्दजी महाराज, आजकल आप सवेरे की क्लास में नहीं आ रहे हैं। मुझे लगता है आप धीरे-धीरे 'आलस्यानन्द' बनते जा रहे हैं। भजन हॉल से मेरी कुटीर सबसे दूर होते हुए भी मैं हर रोज आता हूँ, पर आप उसकी आधी दूरी भी नहीं चल सकते!'

'खैर, कोई बात नहीं। तुम तो वैसे भी अपने प्रभावी व्याख्यानों और रोचक गीतों एवं नाटकों से पर्याप्त कीर्ति अर्जित कर चुके हो। वह लेख पूरा कर लिया न? उच्चतम कोटि का है! तुम्हारा दिमाग सचमुच बेजोड़ है! देखने में भले ही तुम बच्चे जैसे लगते हो, पर तुमने अपनी बौद्धिक प्रतिभायें बहुत अच्छी विकसित कर ली हैं। अब थोड़ा मोटा होने का भी प्रयास करो न! तब तुम्हारी भंगिमा भी प्रभावशाली दिखेगी। और यह क्या? तुम्हारी तो मूँछ भी नहीं है! कम-से-कम नकली ही लगा लो। तब इस बढ़िया लिबास में और अपने फर्स्ट-क्लास दफ्तर के साथ तुम एकदम महाराजा लगोगे। पर नहीं, मुझे तो लगता है कि अपनी मेज पर बैठे हुए तुम महाराजा कम, एक मारवाड़ी व्यापारी ज्यादा लगोगे!'

स्वामीजी का बात रखने का अंदाज गजब का था – गरम और ठण्ढा एक साथ! एक क्षण प्रशंसा और दूसरे क्षण किसी दोष की तरफ हल्का-सा इशारा। आखिर, मुझे ही आदत बदलनी पड़ी, और अब तो ब्रह्म-मुहूर्त्त और जागरण मेरे लिए पर्यायवाची हो उठे हैं।

स्वामीजी हमलोगों से कहा करते थे कि साधक का जीवन इतना श्रेष्ठ होना चाहिए कि जीवन पर पड़ने वाले बड़े-से-बड़े आघात उसे जरा भी प्रभावित न कर सकें। समझाने के लिये वे एक व्यक्ति और उसके शिशु के प्रसंग का उल्लेख किया करते थे। व्यक्ति खड़ा है और उसका छोटा-सा शिशु आता है, उसकी धोती खींचता है और कहता है, 'पापा!' वह आदमी थोड़ा चकित जरूर हो सकता है, पर इससे अधिक वह प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार हमें जीवन की झंझटें उस छोटे-से शिशु के समान ही लगनी चाहिए। हमें झटके की जानकारी तो होनी चाहिए, परन्तु विचलित नहीं होना है।

एक समय की बात है, मैं शिवानन्द आश्रम से ऋषिकेश जा रहा था। रास्ते में मुझे एक बूढ़ा संन्यासी मिल गया। उसने मुझे गौर से देखा और कहा, 'अरे सुनो! तुम्हें पीलिया हो गया है।' मैं यह भी नहीं जानता था कि पीलिया क्या होता है। जब मैं आश्रम वापस आया, तो मैंने उस संन्यासी की बात स्वामीजी को बतायी। स्वामीजी तो डॉक्टर थे। वे बोले, 'हाँ, तुम्हें पीलिया है।' मैंने उनसे पूछा, 'तब मैं क्या करूँ?' वे बोले, 'कुछ नहीं।' और मुझे सचमुच कुछ भी नहीं हुआ!

स्नेहमयी देखभाल

मैं जब स्वामीजी की पुस्तकें अनुवाद करने बैठता तो रात कब आई, कब गई, पता नहीं चलता था। दूसरे दिन भी लिखते ही रह जाता था। एक बार एक मोटी पुस्तक लेकर बैठा था। भोजन और नींद त्यागकर अविराम लिखते जा रहा था। माता कृष्णानन्द जी बार-बार भोजन व विश्राम हेतु कह रही थीं, पर मुझे तो लिखते समय समाधि सी लग जाती थी। उन्होंने देखा कि दूसरे दिन भी नहीं उठा हूँ, न भोजन, न विश्राम। उन्होंने भोजनालय में दूध देखा तो एक गिलास दूध लाकर टेबल पर रख दिया और कहा, 'आपने कल से भोजन नहीं किया है, दूध पी लें, फिर लिखते रहें। कृपा करके इसे पी ही लें।'

लिखने में बाधा पड़ने से मुझे गुस्सा आ गया, 'डोन्ट डिस्टर्ब', कह कर जोर से टेबल पर हाथ मारा तो दूध का गिलास लुढ़क गया। कृष्णानन्द जी

बाहर चली गयीं। मेरा चेहरा लाल हो गया, दरवाजा बंद किया, चादर से सिर बाँधा और सो गया।

गुरुभाई सब परेशान हो उठे। जब मैंने खटखटाने पर भी दरवाजा नहीं खोला, तब गुरुजी को बतलाया गया। वे तुरन्त आए और आवाज दी। मैंने दरवाजा खोला, गुरुजी को प्रणाम किया। स्वामी शिवानन्द जी ने मेरी पीठ थपथपा कर कहा, 'ओ जी स्वामी सत्यानन्द जी, भोजन करके मेरे पास आइए।' और भोजन कराकर अपनी कुटिया में ले गये। कुछ बातें कीं, कुछ काम बताए। मैं फिर प्रसन्न मुद्रा में अपने काम में लग गया।

स्वामीजी अपने शिष्यों का इतना ख्याल रखते और स्नेह करते थे। सचमुच अपने शिष्यों को संतान की तरह प्यार करते थे। जाड़े में बादाम, किशमिश वगैरह मेवा मँगाते थे। बादाम तोड़कर गिरी निकलवाते, फिर अपने हाथ से पैकेट बनाकर सबके कमरे में रखवाते थे। पूछते, 'मेवा खाते हो न?' किसी दिन अचानक जाकर देखते भी कि खाता है या नहीं! यही प्रेम वह अचूक रामबाण था, जिससे स्वामीजी अपने शिष्यों को सुधारते और सदा आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते थे।

आध्यात्मिक नाता

माँ-बेटी, पिता-पुत्र, भाई-बहन, पति-पत्नी – ये सारे सामाजिक सम्बन्ध हैं, जिनसे हमलोग एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और इस जीवन के सुख भोगते हैं। पति अपनी पत्नी से सुख चाहता है, माँ अपने बच्चों से सुख चाहती है। इसी प्रकार आप धन एवं अन्य वस्तुएँ भी चाहते हैं। इसी तरह गुरु-शिष्य का भी सम्बन्ध है जो इन सभी सम्बन्धों से अति निकट है। इसमें एक बड़ा अन्तर भी है, यह सम्बन्ध कामनारहित तथा शारीरिक सम्बन्ध से बिल्कुल परे है। यह माँ-बेटे की तरह का शारीरिक सम्बन्ध नहीं है जिसमें उसका लहू प्रवाहित हो रहा है।

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध मात्र पवित्र आध्यात्मिक नाता है। यह भावनात्मक, लौकिक या लहू का नाता नहीं है। यह सांसारिक प्यार का नाता भी नहीं है। इसे समझना बड़ा कठिन है, फिर भी गुरु-शिष्य का सम्बन्ध अति निकट का सम्बन्ध है, आध्यात्मिक सम्बन्ध है। जब गुरु-शिष्य आध्यात्मिक सम्बन्ध के तार से बन्धते हैं तो गुरु शिष्य के अधिकांश कर्मों को अपने में विलय कर लेते हैं। यदि गुरु महान् हैं तो वे अपने शिष्य के सारे कर्मों को स्वयं ग्रहण कर लेते हैं, पर इस कारण गुरु को कोई कष्ट नहीं होता, वे उन्हें मात्र निकाल फेंकते हैं। ऐसा सम्भव है यदि गुरु-शिष्य का सम्बन्ध उचित तौर पर है और आपस के संचार आध्यात्मिक स्तर पर सुदृढ़ हैं, न कि पार्थिव भावावेग के कारण।

इस तरह यदि आप ध्यान में बैठते हैं और आँखें मूँदते हैं तो सारे संसार को भूल जाते हैं और गुरु आपके सम्मुख खड़े दिखाई पड़ते हैं। यही गुरु-शिष्य का आध्यात्मिक सम्बन्ध होगा। 'जब मैं अपनी आँखें बन्द करता हूँ तो मुझे गुरु दिखाई देते हैं,' यदि आप में एवं आपके गुरु में इस तरह का गहरा सम्बन्ध हो तो आप अपने गुरु से कुछ भी पा सकते हैं। ऐसी स्थिति में गुरु से कुछ भी पा सकना असम्भव नहीं है। यह बात केवल सन्तों के लिए ही नहीं है, आप स्वयं गुरु से भी महान् हो सकते हैं, पर हाँ, यह सब आसान नहीं है, क्योंकि गुरु और शिष्य के बीच, हमारे और ईश्वर के बीच अनेकों रुकावटें हैं। ये रुकावटें इतनी बड़ी, लम्बी-चौड़ी और मजबूत हैं कि एक चेला उन्हें तोड़ नहीं पाता है और गुरु-शिष्य अलग-अलग दो प्राणी हो जाते हैं, एक नहीं रह पाते।

शिष्यों का अपना व्यक्तित्व, अपनी सीमाएँ, अपनी कामनाएँ, अपना अभिमान तथा अपनी अनभिज्ञताएँ हैं। वे अपने गुरु पर सन्देह करते हैं। वे

उनके बारे में निश्चिन्त नहीं हैं और विचारते हैं कि शायद वे इतने महान् नहीं हैं। मैं इन सब बातों को समझता हूँ। अन्ततः क्या होता है? यद्यपि आप बुद्धि से बहुत कुछ समझते हैं, पर वस्तुतः गुरु-शिष्य का आपसी संचार नहीं हो पाता है। गुरु एवं शिष्य कहाँ मिलते हैं? यह मिलन कहाँ होता है? न तो भौतिक स्तर पर, न मानसिक स्तर पर और न ही भावनाओं के स्तर पर, बल्कि यह मिलन सम्पूर्ण अंधकार में होता जहाँ सब कुछ समाप्त हो जाता है, गुह्य-गह्वर में जहाँ कुछ नहीं है, मात्र निःशब्द, निराकार अवस्था है, इसके बीच गुरु का प्रकाशमय प्रभा-पुंज है। गुरु-शिष्य के संचार का यही तरीका है।

यदि मैं आपका गुरु हूँ तो किसी से यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि मैं आपका गुरु हूँ। हम दोनों एक हैं। यह कहना कि मेरे गुरु महान् हैं, यह सब सांसारिक लोगों के लिए है, सच्चे आध्यात्मिक साधकों के लिए नहीं। गुरु-शिष्य के बीच एक गोपनीय तथा अत्यन्त निजी सम्बन्ध है। बिना गुरु के शिष्य राह भटक सकता है और इसी तरह बिना शिष्य के गुरु भी राह भटक सकता है, उसे चन्द कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है।

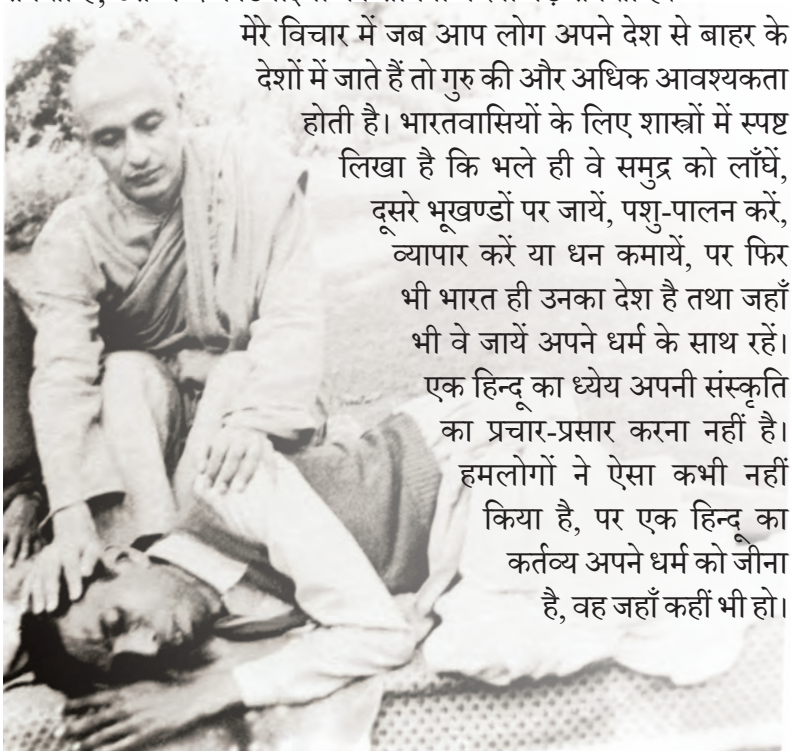

मेरे विचार में जब आप लोग अपने देश से बाहर के देशों में जाते हैं तो गुरु की और अधिक आवश्यकता होती है। भारतवासियों के लिए शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि भले ही वे समुद्र को लाँघें, दूसरे भूखण्डों पर जायें, पशु-पालन करें, व्यापार करें या धन कमायें, पर फिर भी भारत ही उनका देश है तथा जहाँ भी वे जायें अपने धर्म के साथ रहें। एक हिन्दू का ध्येय अपनी संस्कृति का प्रचार-प्रसार करना नहीं है। हमलोगों ने ऐसा कभी नहीं किया है, पर एक हिन्दू का कर्तव्य अपने धर्म को जीना है, वह जहाँ कहीं भी हो।

गुरु की सटीक शिक्षाएँ

मुझे अपने गुरु, स्वामी शिवानन्द जी से हमेशा सटीक, सारगर्भित और व्यावहारिक शिक्षाएँ मिली हैं। जब मैं उनके आश्रम में आया तब मुझे रहने के लिए एक कमरा दिया गया। शुरू में मेरा स्वभाव बड़ा ही विचित्र था। बिना कम्बल के जमीन पर सोता था, आश्रम से जो कम्बल मिला था, उसे भी लौटा दिया था। दरवाजा भी बंद नहीं करता था, क्योंकि मेरे पास कुछ था ही नहीं। कमरे में घड़े में पानी या गिलास भी नहीं रहता था। जब भी प्यास लगे, सीधे गंगाजी चला जाता था। जंगल में शौच के लिए जाना पड़ता था, पर पास में जलपात्र भी नहीं रखता था, जबकि मैं आश्रम का ज्वाइंट सेक्रेटरी था। गीता रोज पढ़ता था, उस पर चिन्तन भी करता था।

एक दिन स्वामीजी निरीक्षण के लिए मेरे कमरे में आये। मेरी अलमारी देखी, खाली थी। चौकी भी खाली थी। उन्होंने पूछा, 'तुम्हारे कमरे में गिलास नहीं है क्या?'

मैंने कहा, 'मैं गिलास नहीं रखता।'

उन्होंने पूछा, 'क्यों नहीं रखते?'

मैंने कहा, 'मुझे परिग्रह अच्छा नहीं लगता।'

वे बोले, 'धत्, क्या फालतू बात बोलते हो, कहाँ से यह सब सीखकर आये हो?' स्वामीजी ज्यादा या बेकार नहीं बोलते थे। शाम को वे नीचे गये तो उन्होंने आठ गद्दे, रजाई, मसहरी, चादर, तकिया, आठ गिलास, एक स्टोव, मिट्टी का तेल, चाय-शक्कर का डिब्बा, सब मेरे कमरे में भिजवा दिया। मेरी समझ में नहीं आया कि यह सब क्यों भेजा गया है। सोचा भण्डार गृह जैसे सब पड़ा रहेगा। मैंने सब सामान कोने में रखवा दिया।

कई दिनों बाद स्वामीजी फिर आये। सब देखा और पूछा, 'चाय का डिब्बा इस्तेमाल करते हो या नहीं?' मैंने कहा, 'नहीं।'

बाद में गुरुजी ने ऐसा फँसाया कि दूसरे दिन से चाय बनानी शुरू कर दी। दरवाजा भी बंद करने लगा। एक दिन स्वामीजी आये और बोले, 'चाय खत्म हो गई या बची है?'

मैंने कहा, 'रोज थोड़ी-थोड़ी बनाता हूँ।' उन्होंने पूछा, 'किसके लिए बनाते हो?' मैंने कहा, 'अपने लिए बनाता हूँ।'

वे बोले, 'अरे, माधवानन्द, कृष्णानन्द आदि को भी बुला लिया करो।' मैंने सोचा, यह तो बड़ा झंझट है। कहाँ तो एक गिलास भी नहीं रखता था, अब दो आदमियों के लिए चाय बनाओ!

जब स्वामी शिवानन्द जी को लगा कि इस अंधे चेले के दिमाग में कुछ घुसने का नहीं है, तब उन्होंने एक दिन मुझे बुलाया और कहा, 'धन-सम्पदा, गद्दा-तकिया, चाय-चीनी, सब जरूर रख सकते हो, दूसरों के लिए। जो खुद चाय नहीं पीते, वे दूसरों को दे सकते हैं।' फिर मुझसे पूछा, 'गीता पढ़ते हो?'

मैंने कहा, 'हाँ, पढ़ता हूँ।'

उन्होंने कहा, 'आज से तुम यह किताब बिल्कुल बंद कर दो। आज से तुम पैसा रखो, एक कमरे की जगह पाँच कमरे रखो। तीस गद्दे रखो। जो भी आता है उसे चाय बना कर दो। बीमार को दवाई दो।'

मैंने पूछा, 'यह सब बहुत अच्छा है क्या?'

उन्होंने कहा, 'जब तुम्हें मालूम पड़ जाएगा कि ऐसा करने से दूसरों की सेवा होती है, दूसरों को सांत्वना मिलती है, तब तुम्हारा आनन्द और बढ़ जाएगा। दवाइयाँ रखो, बीमारों को दो।'

मैंने कहा, 'बहुत अच्छा स्वामीजी, मगर इसमें झंझट बहुत है। आदमी फँस जाता है।'

स्वामीजी बोले, 'नहीं, सेवा की महत्ता को जानना चाहो तो ऐसा ही करो। दूसरों को इसमें सुख मिलता है, उन्हें मदद मिलती है। जब तुम्हें पता चलेगा तब तुम्हारा आनन्द बढ़ जाएगा।'

इसके बाद मेरा कमरा एक अजायबघर बन गया। मेरे कमरे में दवाई, लिफाफा, टिकट, पेन्सिल से फाउन्टेन पेन की इंक तक सब कुछ मिल सकता था। कोई भी आता, कहता, 'यह चाहिए।' मैं कहता, 'ठीक है, यह लो।'

कोई आता, 'स्वामीजी, मेरे पेट में दर्द है।'

'अच्छा, यह दवाई ले लो।'

तब मेरे को मालूम पड़ा कि त्याग का मतलब वस्तु का त्याग नहीं होता है। अपने लिए जो काम किया जाता है, वह स्वार्थ है। त्याग का मतलब अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए काम करो। *काम्यानां कर्मणां न्यासं,* यही संन्यास है, और इसकी शिक्षा मुझे गुरुजी ने कितने सहज ढंग से दी।

आश्रम में कभी-कभी मुझे पुस्तकालय की सफाई करने को कहा जाता और धूल झाड़ते समय मुझे वहाँ ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद दिखते। यह

एक बहुत बड़ा प्रलोभन था। उपनिषद और अन्य आध्यात्मिक ग्रंथ भी मुझे प्रलोभित करते थे।

मैंने स्वामीजी से कहा, 'यहाँ इतनी सारी पुस्तकें हैं । क्या मैं कुछ पढ़ने के लिए ले सकता हूँ?'

उन्होंने उत्तर दिया, 'सत्यानन्द, तुम इंजेक्शन की बात कर रहे हो, तुम्हें तो शिक्षण की बात करनी चाहिए। जब ज्ञान बाहर से आता है तो वह इंजेक्शन लेना हुआ। जब आंतरिक ज्ञान बाहर प्रकट होता है, तब उसे शिक्षा या विद्या कहते हैं। सारा ज्ञान तुम्हारे अन्दर विद्यमान है। चारों वेदों का ज्ञान तुम्हारे भीतर है। मनुष्य सर्वज्ञान-सम्पन्न है। तुम्हारी आत्मा सर्वज्ञ है।' उनका कहना था कि हर जीव, हर प्राणी मूलत: ईश्वर स्वरूप है। उसके अन्दर वह बीज व्याप्त है जिसे आत्मा या परमात्मा कहा जाता है।

ज्ञान हमारे अन्दर है, फिर वेदों को पढ़ने से आप क्या हासिल करेंगे? मैं बारह वर्ष सिर्फ परिश्रम ही करता रहा और फिर मुझे योग सिखाने को कहा गया। आप मानें या न मानें, मैंने कभी योग पर कोई पुस्तक नहीं पढ़ी। मैंने योग पर कई किताबें लिखी जरूर हैं, लेकिन पढ़ी कोई नहीं। कुछ किताबों, जैसे याज्ञवल्क्य संहिता, गोरक्ष संहिता, घेरण्ड संहिता और स्वात्माराम की हठ योग प्रदीपिका के सिर्फ पन्ने पलटे हैं। इनको देखा जरूर है, पर किसी को पढ़ा नहीं, क्योंकि स्वामी शिवानन्द जी ने मुझे आश्वस्त कर दिया था कि सारा ज्ञान मेरे भीतर ही है।

श्रद्धा में सहजता और सरलता

साधक को गुरु के प्रति श्रद्धा, भक्ति और समर्पण कैसे बढ़ाना चाहिये?

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध आध्यात्मिक आयाम का सम्बन्ध है – मिट्टी हमारी यहाँ रही, प्राण तुम्हारे पास। मिट्टी याने शरीर, यह सम्बन्ध शरीर का सम्बन्ध नहीं है। स्त्री-पुरुष, बाप-बेटे, भाई-बहन इत्यादि के जो सम्बन्ध दुनिया में देखते हो, ये खून के रिश्ते हैं, मिट्टी के रिश्ते हैं। उसी तरह से चलते हैं और चलना भी चाहिये, यद्यपि कुछ समय के बाद ये भी न रहें तो अच्छा है।

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध कोई धर्म का सम्बन्ध नहीं है कि हम हिन्दू हैं तो तुम्हें भी हिन्दू होना चाहिए। यह कोई पंथ या सम्प्रदाय का सम्बन्ध भी नहीं है, बल्कि यह पवित्र प्रेम का सम्बन्ध है। प्रेम का एक रूप होता है वासना, वह तो सब जानते ही हैं। प्रेम का दूसरा रूप वात्सल्य या ममता है जो माता, पिता, पुत्र आदि से होता है। इसको सामान्य रूप से प्रेम कहा जाता है। प्रेम का तीसरा रूप है भक्ति। अब चाहे भक्ति कहो, प्रेम कहो या वासना कहो, मूलतत्त्व तीनों में एक ही है।

अब देखा जाता है कि गुरु के प्रति श्रद्धा भाव बढ़े तो उसमें बहुत सावधान रहना पड़ता है, क्योंकि इतिहास में हमलोगों के सामने बहुत-से कठोर सत्य प्रस्तुत किये गये हैं। जैसे ईसामसीह, जो ईसाइयों के गुरु थे, वे कितनों के गुरु थे, मगर उनको एक अपराधी के रूप में सूली पर चढ़ाया गया। उस वक्त चेला लोगों का क्या हाल हुआ होगा? तुम अन्दाज लगा सकते हो कि अगर आज हमें हथकड़ी लगाकर जेल ले जायें तो या तुम लोग पागल हो जाओगे, क्योंकि वहाँ तुम्हारी प्रतिष्ठा का सवाल उठेगा, या कहोगे कि 'धत्त तेरे की, हमलोगों को तो ठग लिया स्वामीजी ने!'

ऐसा होता है, इतिहास बतलाता है। कई बार स्वामी दयानन्द जी को जहर दिया गया, ऐसी अनेकों कहानियाँ हैं। भगवान बुद्ध जब जीवित थे तो उनको मानने वाले बहुत बड़े-बड़े लोग थे, मगर उनको गाली देने वाले भी उतने ही थे। आज लोग ये सब बातें नहीं करते हैं, लेकिन हमने तो उस समय के वर्णन और वृत्तान्त पढ़े हैं। भगवान बुद्ध को सामने गाली देने के लिये लोग आते थे कि तुम चाण्डाल की तरह बात करते हो, तुम धोखेबाज हो, तुम मायावी हो, ऐसी-ऐसी बातें लोग बोलते थे। नालंदा से एक ब्राह्मण आया था, उसका

नाम था मौद्गल जिसके नाम से इस नगर का नाम मुंगेर पड़ा है। वह भगवान बुद्ध को कपटी इत्यादि बोलने लग गया, लेकिन भगवान बुद्ध ने स्थिति को अच्छी तरह संभाल लिया और बाद में वह भगवान बुद्ध का एक प्रिय शिष्य बन गया। उनके दो प्रिय शिष्य थे, मौद्गल और सारिपुत्र, शायद मौद्गल के नाम पर उन्होंने मुंगेर में आश्रम बनाया होगा। अनेक महात्माओं का जीवन ऐसा ही रहा है। जैनों के गुरु, महावीर पर लोग पत्थर फेंकते थे, उनको बड़ा तंग करते थे। वे भी तो मुंगेर जिले में ही पैदा हुए हैं न, जमुई की तरफ।

गुरु के प्रति तुम्हारी श्रद्धा का आधार पक्का होना चाहिये। आधार न तो उनका यश है, न उनकी सम्पत्ति, न उनकी सिद्धि, न उनका रूप-रंग, न उनकी जाति, न उनका वर्ण, न उनका गोत्र और न ही उनकी शिक्षा। गुरु की कोई भी योग्यता उस पर श्रद्धा का आधार नहीं होती। श्रद्धा का आधार स्वयंभू होता है, अपने आप होता है। 'तुमने उसको प्रेम क्यों किया जी?' 'बस हो

गया।' इसको तुम समझा नहीं सकते हो। इसको समझाना बुद्धि से परे है। बुद्धि बतलाती है कि मीराबाई को एक लकड़ी की मूर्ति मिली तो उसने सोचा, बड़ी सुन्दर मूर्ति है, पुरुष की तरह लगती है, इनसे शादी करूँगी। ऐसा उसने सोचा था क्या? नहीं, वह तो देखते ही प्रेम हो गया, श्रद्धा हो गई।

श्रद्धा एक ऐसी चीज है जो गुरु और शिष्य के बीच स्वयं ही, बिना किसी कारण से, अकारण जागती है और वह या तो शिष्य के पूर्वजन्म का सम्बन्ध है या फिर शिष्य के पूर्वकर्म का सम्बन्ध है, और कभी-कभी गुरु के पूर्वजन्म का भी कारण हो सकता है। जैसे रामकृष्ण परमहंस को स्वामी विवेकानन्द जी मिले। अब यह विवेकानन्द जी का कर्म था जो उन्हें रामकृष्ण परमहंस जैसे गुरु मिले या रामकृष्ण जी का कर्म था कि उनको स्वामी विवेकानन्द जैसे चेला मिले। इतना तो स्पष्ट है कि रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द जी के लिये बराबर प्रतीक्षा करते थे। स्वामी विवेकानन्द ने परमहंस रामकृष्ण के लिये कभी प्रतीक्षा नहीं की, आपने वचनामृत में पढ़ा भी होगा कि कभी-कभी मन नहीं करता तो नहीं भी आते थे, पर रामकृष्ण बार-बार दरवाजे पर जाकर देखते थे कि नरेन्द्र आया कि नहीं आया। मतलब यह उनकी श्रद्धा थी शिष्य पर जिसकी वजह से वे निरंतर अपने शिष्य के साथ ऐक्य अनुभव करने का प्रयत्न करते थे। बाद में जब सब चीजें हो गयीं, विवेकानन्द जी शिष्य के रूप में प्रस्तुत हो गये और जब रामकृष्ण जी नहीं रहे, तब विवेकानन्द जी की श्रद्धा जागृत हुई।

यह अपने में बहुत कठिन प्रश्न है, और आध्यात्मिक जीवन के लिये यह बहुत ऊँची चीज है। मैंने दो-तीन बातें देखी हैं। गुरु के साथ संयोग होने से अपने आप आध्यात्मिक स्फूर्ति उत्पन्न होती है, उसके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जैसे तुम फूलों के सुन्दर बगीचे में जाते हो तो बड़ा अच्छा लगता है। वह जो बहुत अच्छा लगता है वह बौद्धिक अनुभव है या भावनात्मक। वह भावनात्मक है, आखिर तुमने थोड़े ही सोचा कि फूल हैं, पत्तियाँ हैं, कलियाँ हैं, इसलिए अच्छा लगना चाहिए। जैसे सुन्दर उपवन में तुमको सुन्दर-सुहावना लगने लगता है, या गंगा जी के शीतल जल में स्नान करने से अपने आप शरीर शीतल और मन आनंदित हो जाता है, या पूर्णमासी के चन्द्रमा के दिन कैसा लगता है, या किसी गंदी जगह चले जाओ तो अपने आप ही बुरा लगने लगता है, उसी तरह गुरु और शिष्य के संयोग से श्रद्धा स्वयं उत्पन हो जाती है और उस श्रद्धा को बढ़ाने का कोई बौद्धिक उपाय करने की मेरी समझ में कोई आवश्यकता ही नहीं है।

गुरु – शिष्य का सर्वोच्च शुभचिंतक

गुरु आश्रम में एक समय मैं बृहदारण्यक उपनिषद् पर टीका लिख रहा था। मुझे संस्कृत और दर्शन शास्त्र की बहुत अच्छी जानकारी थी, मेरी शैक्षणिक योग्यता भी अच्छी थी, फिर भी मुझे इस उपनिषद् की व्याख्या में बहुत मुश्किलें आ रही थीं। समय-समय पर जब मैं स्वामीजी के पास स्पष्टीकरण के लिए जाता तो वे मुझे स्वामी तपोवनम् जी महाराज के पास निर्देशित कर देते। वे स्वामीजी के शिष्य नहीं थे और ऋषिकेश नहीं, बल्कि उत्तरकाशी में रहते थे। वे एक आदरणीय संन्यासी थे, उपनिषदों के प्रकाण्ड पंडित और संस्कृत के बड़े विद्वान्।

अपने जीवन काल में स्वामी शिवानन्द जी ने करीब तीन-चार सौ किताबें लिखीं। जब तक मैं उनके साथ था, उन्होंने ढाई सौ किताबें लिख डाली थीं, फिर भी उनके चिंतन और चरित्र का यह एक प्रमुख पहलू था कि वे कभी यह दिखावा नहीं करते थे कि वे सब जानते हैं। वे चाहते तो इधर-उधर की कुछ पुस्तकों का उल्लेख करके भी मुझे निर्देशित कर सकते थे, पर वे मेरे शुभचिंतक थे और जानते थे कि स्वामी तपोवनम् जी महाराज जैसे प्रकाण्ड विद्वान् के पास मुझे भेजना ही सबसे उत्तम होगा। जब सर्दी के मौसम में स्वामी तपोवनम् जी ऋषिकेश में ठहरने के लिये आते तब स्वामी शिवानन्द जी मुझसे कहते, 'स्वामी तपोवनम् आए हुए हैं, जाओ उनसे कुछ सीख लो।'

बस मैं अपने दर्शन और व्याकरण सम्बन्धी प्रश्न लेकर उनके पास चला जाता और उनके साथ घण्टों बैठकर दर्शन शास्त्र पर चर्चा करता। जब मैं आश्रम लौटता तो हमेशा स्वामी शिवानन्द जी को इन्तजार करते पाता। वे मुझे अपनी कुटिया में बुलाकर पूछते, 'तुमने उनसे क्या पूछा और उन्होंने क्या उत्तर दिया?' मैंने जो कुछ भी सीखा था उन्हें बताता और जब मैं बोल रहा होता तो स्वामीजी ध्यानपूर्वक सब लिखते जाते। अगली सुबह वे अपने नोट्स टाईप करवा लेते और उन्हें एक कथा, लेख या कविता के रूप में विकसित कर लेते। ऐसी थी उनकी विनम्रता और महानता!

मैं हमेशा से थोड़ा गुस्सैल और अड़ियल किस्म का आदमी रहा हूँ, अपने गुरु आश्रम में भी मेरा ऐसा ही स्वभाव था। आश्रम का यह नियम था कि भोजन परोसने के पहले एक स्वामी रसोई से टिफिन में भोजन लेकर विश्वनाथ मंदिर

जाता, वहाँ भगवान को भोग चढ़ाया जाता, पूजा होती। फिर तुलसीदल और गंगाजल छिड़कने के बाद वह टिफिन वापस रसोईघर आता जहाँ वह प्रसाद शेष भोजन में मिला दिया जाता। उसके बाद ही भोजन की घंटी बजती थी। यही आश्रम की परम्परा और नियम था। एक दिन आश्रम में कोई प्रोफेसर आये। स्वामी शिवानन्द जी उन्हें बहुत पसंद करते थे, क्योंकि अपने परिव्राजक काल में वे स्वामीजी के साथ घूमते और भजन-कीर्तन गाते थे।

सुबह के करीब 10 बजे थे। स्वामी शिवानन्द जी ने मुझसे कहा, 'स्वामी सत्यानन्द, इन्हें भोजन करा दीजिये।' मैंने कहा, 'स्वामीजी, अभी पूजा नहीं हुई है!' उन्होंने कहा, 'यह भी ईश्वर ही हैं, इन्हें पहले परोस दो!' मुझे गुस्सा आ गया। मैंने कहा, 'फिर आपने यह नियम क्यों बनाया? अगर ये भगवान हैं तो मैं भी भगवान हूँ और दस बजे भोजन करने वाले सभी लोग भगवान हैं। आपने फिर यह नियम किसलिए बनाया कि पहले भगवान विश्वनाथ को

भोग लगेगा, प्रसाद रूप में रसोई वापस लाया जायेगा, उसके बाद ही परोसा जाएगा? आज वह नियम कहाँ गया?'

स्वामीजी मुझसे दस-पन्द्रह गज की दूरी पर थे। मैंने रसोई की चाभियों का गुच्छा लेकर उनकी तरफ फेंकते हुए कहा, 'अब आप ही रसोई संभालिए!' मैं सीधे अपने कमरे में गया और अपने को बन्द कर लिया। तीन-चार दिन तक दरवाजा ही नहीं खोला! मुझे इतने क्रोध, घुटन और निराशा का अनुभव हो रहा था, मुझे समझ में नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूँ! आखिर वे मेरे गुरु थे। मैं उनसे न तो लड़ सकता था, न दुर्व्यवहार कर सकता था और न ही किसी से उनकी शिकायत कर सकता था। मुझे समझ में नहीं आ रहा था कि अब मैं उनसे सुलह कैसे करूँ ।

अहंकारी होने के कारण मैं तीन-चार दिन तक बाहर ही नहीं निकला। आखिर मेरा शरीर जवाब दे गया, मुझे जोर की भूख लगी। मैं रसोई में गया और चुपचाप थोड़ा-सा भोजन लिया। वहाँ सब स्वामी शान्त थे, किसी ने मुझे टोका नहीं। लौटते समय स्वामी शिवानन्द जी रास्ते में मिले। उन्होंने कहा, 'ॐ नमो नारायणाय। कैसे हो?' मैंने कहा, 'मैं ठीक हूँ।' उन्होंने पूछा, 'कॉफी पियोगे?' मैंने हाँ कह दिया। सोचा, शायद यही सुलह का अवसर हो। स्वामी शिवानन्द जी कभी कॉफी नहीं पीते थे, लेकिन वे रखते जरूर थे, खासकर मेरे लिए। जब भी मैं उनके पास किसी काम से जाता, वे मेरे लिए कॉफी बनाते। उन्होंने यह घटना किसी को भी नहीं बताई और न मुझे लम्बा-चौड़ा उपदेश दिया कि हर मनुष्य में भगवान के दर्शन करो।

उन्हें मालूम था कि मैं 'अहंकार' नामक रोग से ग्रसित था, और उनके लिए सर्जरी करके उसे निकालना मुश्किल था। इसलिए उन्होंने सोचा कि चुप रहना ही उचित है। समर्पण क्या है और अहंकार का स्वरूप क्या है, इसे परिभाषित करना कठिन है। यदि मेरा एक स्वतंत्र व्यक्तित्व, विचारधारा एवं सिद्धान्त है और मुझे उन पर अभिमान है, तब क्या इसका मतलब यह कि मैं शिष्य नहीं हूँ? मैं शिष्य तो हूँ ही, क्योंकि मैंने स्वामी शिवानन्द जी को अपना गुरु स्वीकार किया है। 99.9 प्रतिशत नहीं, बल्कि 110 प्रतिशत! वे मेरे गुरु हैं, मेरे सर्वश्रेष्ठ शुभचिंतक हैं और इसलिए अहंकार निकालने का ऑपरेशन मुझ पर जरूर करेंगे। वे यह सब भली नीयत से करते हैं, बुरी से नहीं। इसलिए शिष्य को विनम्र होना चाहिए, आक्रामक नहीं। उसमें कड़वाहट या बदले की भावना नहीं होनी चाहिए, तभी वह गुरु की उदात्त शिक्षाओं को आत्मसात् कर पायेगा।

आन्तरिक सम्बन्ध

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध जन्म-जन्मांतर तक होता है या इसी जन्म तक?

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध केवल एक जन्म का नहीं हो सकता, यह सम्बन्ध अनेक जन्मों तक चलता है। गुरु कई प्रकार के होते हैं, शिष्य भी अनेक प्रकार के होते हैं और दीक्षा भी कई प्रकार की होती हैं। जैसे यज्ञोपवीत के दिन गायत्री मंत्र में दीक्षा दी जाती है। ऐसी दीक्षा देने वाले को आचार्य कहते हैं। उसके साथ जन्म-जन्मांतर का सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि इस जन्म में तुम्हारा उसके साथ जो भी सम्बन्ध है, वह कर्मकाण्ड विधि तक ही सीमित है। उसके बाद तुम संस्कृत, ज्यामिति विद्या पढ़ने के लिये स्कूलों और कॉलेजों में जाते हो। पहले के जमाने में पाठशालाएँ थीं और उसके पहले गुरुकुल थे।

जब गुरुकुल में छात्र जाते थे तो वहाँ गुरुजी से वेद-शास्त्र विद्या सीखकर आते थे। वह सम्बन्ध भी गुरु-शिष्य का माना जाता है, परन्तु यह जन्म-जन्मांतर का सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि यह लौकिक सम्बन्ध है, जैसे आचार्य के साथ था। फिर उसके बाद तुम्हारी शादी हो जाती है। शादी के बाद अपने धर्म या अपनी जाति या अपनी कुल परम्परा के नियमों के अनुसार तुम मंत्र में दीक्षा लेते हो। उसको कहते हैं, गुरुमुख होना या कान फूँकाना। वह मंत्र तुम इसलिये लेते हो, क्योंकि लेना चाहिये। हिन्दुस्तान में कई जगह ऐसा विश्वास है कि जब तक बहू के कान नहीं फूँकाये तब तक वह रसोई के लायक नहीं है। मध्य-प्रदेश के कुछ इलाकों में हम गये थे जहाँ लोग मेरे से दीक्षा लेने के लिये आते थे। हमने पूछा कि तुम लोग दीक्षा क्यों लेते हो जबकि तुम्हें न तो जप करना है, न ही कोई साधना करनी है। तो वे लोग कहते थे कि दीक्षा के बिना इसके हाथ का खाना सास नहीं खायेगी। यहाँ भी बस मंत्र का सम्बन्ध है, गुरुमुख होना है। यह भी जन्म-जन्मांतर का सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उसने जो हमसे मंत्र लिया, यह लौकिक समबन्ध था, आंतरिक नहीं था।

गुरु-शिष्य का जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध तब रहता है जब वह सम्बन्ध किसी आंतरिक भाव से प्रेरित रहता है। जैसे किसी व्यक्ति और उसकी धर्मपत्नी के बीच लौकिक सम्बन्ध तो है ही, यदि आंतरिक सम्बन्ध भी है तो जन्म-जन्मांतर में एक-दूसरे से जरूर मिलेंगे। लेकिन केवल लौकिक सम्बन्ध है तो वे जन्म-जन्मांतर में नहीं मिल सकते। वैसे ही अपनी धर्मपत्नी के अलावा

यदि किसी लड़की या स्त्री से तुम्हारा सम्बन्ध है, चाहे वह मित्रता और प्रेम का सम्बन्ध हो, अगर वह आन्तरिक है तो फिर जन्म-जन्मांतर में मिलोगे, और यदि वह लौकिक सम्बन्ध है, चाहे वासनापूर्ति के हेतु या मित्रता के हेतु, तो वे जन्म-जन्मान्तर में नहीं मिल सकते।

जन्म-जन्मांतर में वही रिश्ते जाते हैं जिनका सम्बंध तुम्हारे आन्तरिक जीवन से होता है। ऐसे सम्बन्ध की पहुँच न केवल बुद्धि और मन तक होती है, बल्कि तुम्हारी आत्मा तक रहती है। यदि ऐसा तुम्हारा गुरु है और यदि ऐसा उसका चेला है तो इस जन्म में तो खैर गुरु-शिष्य हैं ही, पर अगले जन्म में भी मिलेंगे। गुरु-शिष्य के बीच वात्सल्य-भाव भी रहता है, साख्य-भाव भी रहता है, दास्य-भाव भी रहता है, उपास्य-भाव भी रहता है। ये सब भाव जब एक साथ होते हैं तब उसको कहा जाता है आन्तरिक सम्बन्ध।

गुरु की पहचान

कोई गुरु आत्मज्ञान कराने के योग्य है, यह कैसे पहचानें?

जो व्यक्ति ज्ञान की सिर्फ बातें करता है वह गुरु नहीं कहलाता। अगर आप सोचते है कि वही गुरु है जो व्यक्ति अच्छी बात करे या जिसकी सफेद दाढ़ी हो, जो भव्य हो, तो आपको गुरु पहचानने का तरीका नहीं मालूम। वास्तविक गुरु की पहचान यही है कि वह हमें किसी भी उपाय के द्वारा सही मार्ग पर ले आये और आत्मज्ञान करा दे।

तिब्बत के योगी मिलारेप्पा की कहानी है, उनके गुरु थे मारपा। मिलारेप्पा जब अपने गुरु के यहाँ गये तो गुरु ने बस इतना पूछा, 'किसलिये आये हो?' मिलारेप्पा ने कहा, 'मैं आत्मज्ञान प्राप्त करने आया हूँ।' उन्होंने कहा, 'आत्मज्ञान को छोड़ो, तुम जाकर उस पहाड़ पर मेरे लिये घर बनाओ।' मिलारेप्पा नीचे से पत्थर ढोकर ऊपर ले जाने लगे और घर बनाना शुरू किया। इस बीच एक दिन भी उन्होंने गुरु का दर्शन नहीं किया।

गुरु माता को दया आई कि यह लड़का इतना काम करता है, इसे अलग से कुछ दूध-फल दे दें। मारपा भयंकर गुस्सा हो गये। बहुत दण्ड दिया मिलारेप्पा को कि तुमने ऐसा क्यों किया? आप या हम होते तो भाग जाते, सोचते कि कैसा गुरु है, लेकिन मिलारेप्पा डटे रहे। सच्चे चेले की यही पहचान है, हमेशा डटे रहना, चाहे जो भी आँधी-तूफान आए। जब मकान बन गया तो मिलारेप्पा अपने गुरुजी के पास गये और बोले कि मकान बन गया है, अब आत्मज्ञान दीजिये।

गुरुजी ने कहा, 'पहले मकान देखेंगे।' वे पहाड़ के ऊपर गये, फिर कहा, 'यह जगह अच्छी नहीं लगती। मकान नीचे बनाओ।' मकान नीचे बनाने के लिये बेचारे मिलारेप्पा फिर रोज पत्थर ढोने लगे। एक दिन गुरुजी घूमते हुए आये और बोले, 'तुम बहुत धीरे काम कर रहे हो।' ऐसा कहकर कसकर एक लात लगायी। मिलारेप्पा पहाड़ी से एकदम नीचे गिर गये। हम लोग होते तो पता नहीं क्या होता, लेकिन मिलारेप्पा के मन में केवल एक ही विचार था कि मेरे गुरु मुझे बचायेंगे। जमीन में टकराने के पहले उन्हें एक हाथ ने पकड़ लिया! इसलिए आत्मज्ञान प्राप्त करना शिष्य की क्षमता पर निर्भर करता है।

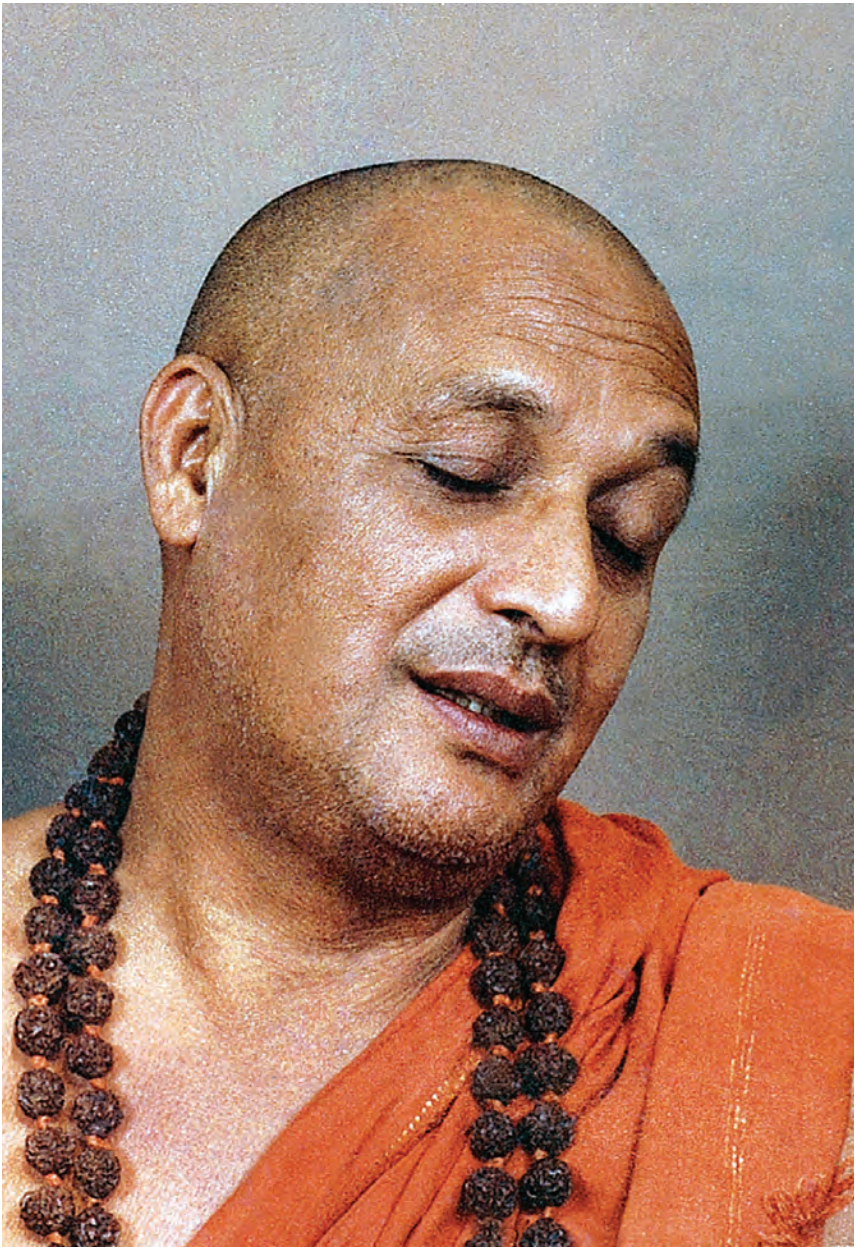

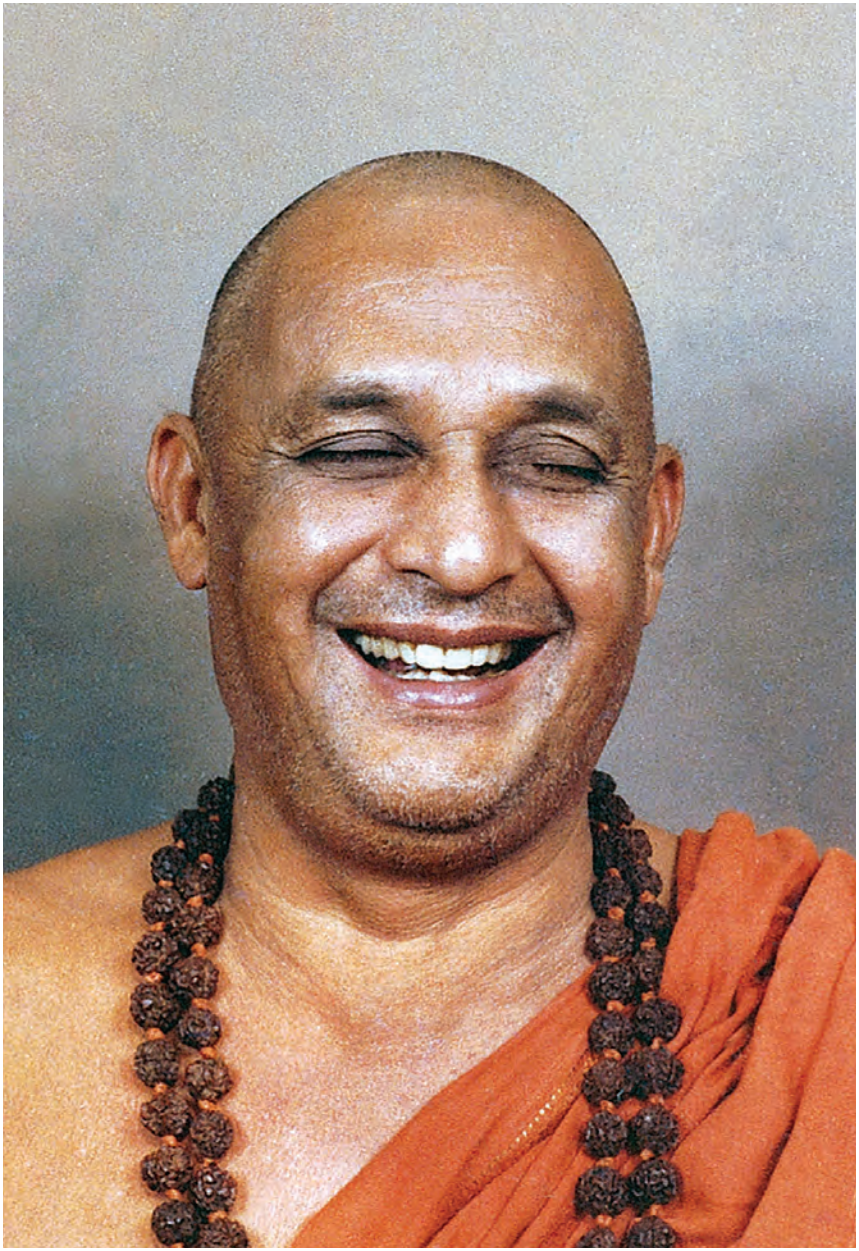

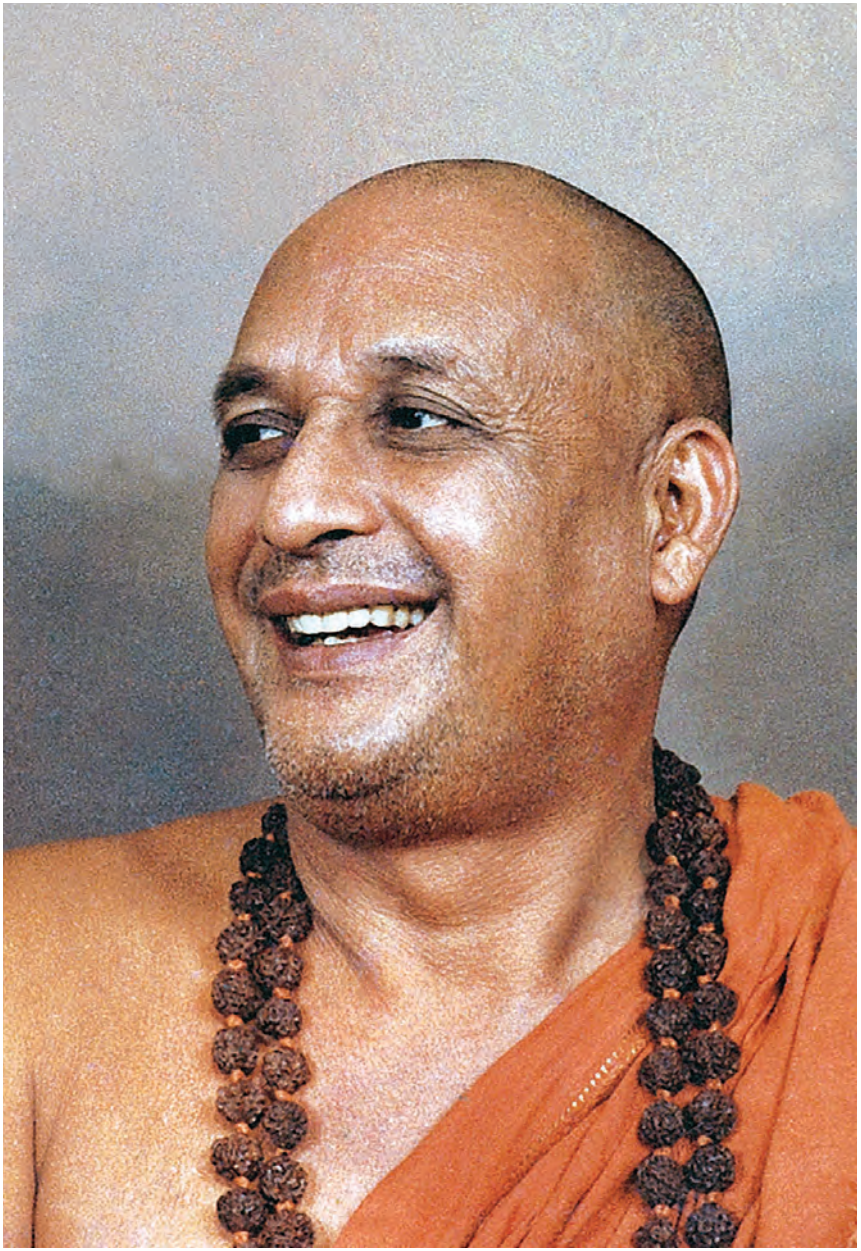

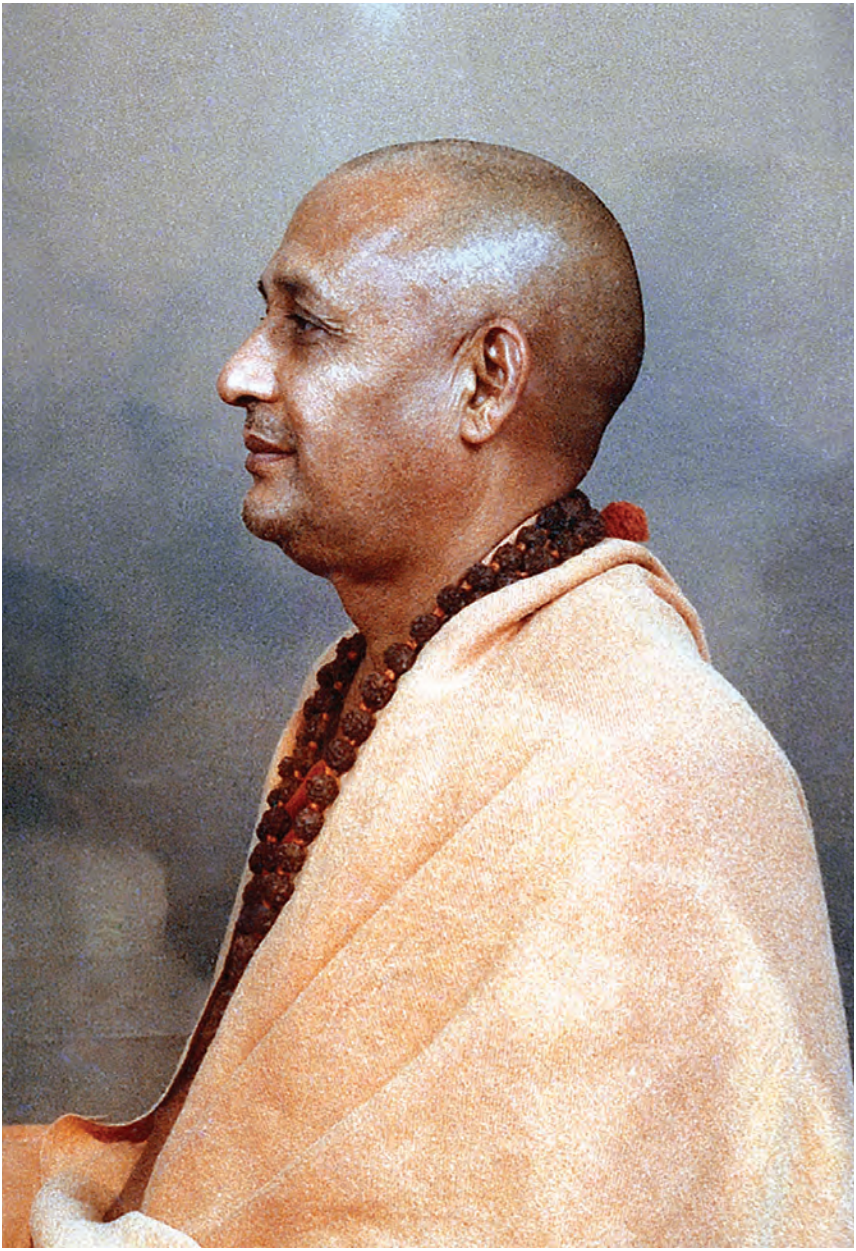

गुरु आश्रम की स्मृतियाँ

आप किस स्कूल में गए, जिसने आप जैसा नागरिक बनाया?

मैं आज जो कुछ हूँ, अपने गुरु आश्रम में बना। हमारे गुरु, स्वामी शिवानन्द जी कभी कुटिया से बाहर आते नहीं थे। सब काम हमलोगों को ही करना पड़ता था। पैसा कमाना, खर्च करना और संभाल कर भी रखना। मकानों के नक्शे बनाना, फिर रसोईघर और मकान बनाना, यह सब अपने से करना पड़ता था। स्वामीजी केवल कह देते थे, 'बहुत अच्छा है।' अपने ऊपर सब काम पड़ गया, इसलिए सब सीखकर करना पड़ा। इसका स्कूल की शिक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं।

शिवानन्द आश्रम का विकास मुख्यतः आपने ही किया है न?

स्वामी शिवानन्द जी के आश्रम के निर्माण और विकास में बहुत शिष्यों का हाथ था, किसी एक का नाम लेना उचित नहीं होगा। उस वक्त वहाँ हम बीस-बाईस साल के संन्यासी थे। हम लोगों को सोचना पड़ा, करना पड़ा। जिसकी जो प्रतिभा थी, क्षमता थी, उसने वह दिखानी शुरू की।

स्वामीजी ने केवल तीन काम किए। एक तो उन्होंने संस्था बना दी और उसको पंजीकृत करवा दिया। एक बार संस्था पंजीकृत हो गई तो उसे ठीक ढंग से चलाना भी पड़ेगा। लेखा-जोखा रखना पड़ेगा, ऑडिट करवाना पड़ेगा, सारी औपचारिकताएँ पूरी करनी पड़ेंगी। दूसरा, उन्होंने दिव्य जीवन पत्रिका चालू कर दी। अब उसके लिए लेख तैयार करने ही पड़ेंगे, उसकी प्रूफ-रीडिंग के लिए पढ़े-लिखे लड़के होने चाहिए, फिर उसको छापना पड़ेगा, डाक से भेजना पड़ेगा। ये दो अनिवार्यताएँ उन्होंने तैयार कीं।

तीसरा, उन्होंने अखण्ड महामंत्र कीर्तन का संकल्प ले लिया। अखण्ड कीर्तन के संकल्प का मतलब होता है बहुत-से लोगों को इकट्ठा करना। चौबीसों घण्टे कीर्तन करना है तो चार-पाँच आदमियों से यह होने वाला नहीं। उसके लिए तीस-चालीस आदमियों की जरूरत पड़ती है। इसलिए जो भी आए, उसे ले लो, उसके रहने, खाने-पीने और बीमारी के इलाज का इन्तजाम करो।

स्वामीजी ने इन तीन चीजों के आधार पर लोगों को इकट्ठा किया और सब काम हम लोगों को करना पड़ा। अब कोई आएगा तो कहाँ ठहरेगा? ठीक है, मकान बना लो। भोजन कहाँ करेगा? खाने के लिए रसोईघर बना। रसोईघर में बन्दर आकर लूटता है, तो उसमें छत लगा दो। यह सब हम लोगों को सोचना पड़ा। हम लोग अपने घर में रहते हुए यह सब थोड़े ही जानते थे। हम लोग मकान में रहते थे, मगर यह मालूम नहीं था कि मकान कैसे बनता है। जब बनाना पड़ा तब पता चला कि मकान में नींव होती है, खम्भे, दीवार, खिड़की और छत होती है। खाना बनाना हमें क्या मालूम? घर में नौकर खाना बना देते थे, हम खा लेते थे। आश्रम आकर पता चला कि खाने का मतलब आग जलाओ, रसोईघर साफ करो, पानी लाओ, सब्जी काटो, बाजार से अनाज लाओ, उसको कीड़े, बन्दर आदि से बचाओ। कढ़ाई गरम होती है, उसको कैसे पकड़ना चाहिए। छत चूने लगती है, उसको ठीक करना है। बरसात के दिनों में पानी गंदा हो जाता है, उसको कैसे छाना जाता है, यह सब सोचना पड़ा, क्योंकि सब सिर पर आ गया।

पत्रिका शुरू हुई तो बहुत लोग आने लगे। अब उनके रहने का पक्का इन्तजाम करो ताकि बन्दर उनके कमरे में न जा सके। वहाँ का बन्दर ऐसा होता है कि कमरे के अन्दर जाकर चीज उठा लेता है। इसके अलावा साँप और बिच्छू थे, रोज बिच्छू की कोई-न-कोई घटना होती थी। वहाँ से बैंक

बीस मील दूर था। सबेरे जाओ, शाम को लौटो। पत्रिका की छपाई लाहौर में होती थी, एक-दो हजार प्रतियाँ छपती थीं। छपवाने के लिए लाहौर जाओ, छपाई करके आश्रम भेजो, फिर यहाँ पर लिफाफे में डालो, मुहर लगाओ, ताँगे से ऋषिकेश ले जाओ, वहाँ जाकर डाक से भेजो। सबेरे का गया स्वामी शाम को ही वापस आता था।

फिर पानी की समस्या! जब भी पानी चाहिए तो गंगा जी जाओ। टट्टी लगे तो पहले गंगाजी जाओ, बाल्टी भरो, फिर वहाँ पहाड़ में जाकर टट्टी करो, फिर वहाँ से वापस गंगाजी आओ और हाथ धोओ। यह जीवन था।

आश्रम में पैसा आने लगा तो सोचना पड़ा कि पैसे का अब क्या करना है। ज्यादा पैसा हो तो आयकर के अंतर्गत आ जाता है। तब फिर मन्दिर बनाना शुरू किया। मन्दिर बनाया तो उसके लिए पुजारी होना चाहिए और रोज चार बार नियमपूर्वक पूजा होनी चाहिए। प्रसाद के लिए सबेरे चार बजे खिचड़ी बननी चाहिए। इसके लिए रसोईघर में चार बजे आग होनी चाहिए।

इन सब चीजों से हमारे अंदर बेहद आत्मविश्वास, श्रद्धा और साहस आया। इन सबका शिक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं। अगर हम स्कूल में नहीं भी पढ़े होते तो भी हम ऐसे ही होते जैसे आज हैं। आश्रम का प्रशिक्षण बहुत मदद करता है। हमें एक-एक चीज को देखना पड़ता था, क्योंकि सब अपने सिर पर था। गुरुजी तो कुटिया से निकलते ही नहीं थे। निकलते भी तो थोड़ा देखकर वापस चले जाते थे। कहते थे, 'क्या हुआ? मकान बन गया, बहुत अच्छा।' बस इतना कहकर चले जाते थे। वे यह थोड़े ही बोलते थे कि वहाँ कील मत ठोको, वहाँ पानी चू सकता है, ठीक करो। वह सब हम लोगों को सोचना पड़ता था। जब लड़कों के सिर पर आता है तब वे बहुत योग्य बनते हैं। स्वतंत्रता और प्रोत्साहन से आत्मविश्वास आता है। हमारे स्वामीजी हमें प्रोत्साहन देते थे। प्रोत्साहन का मतलब तारीफ नहीं, बल्कि यह कि वे हमें काम करने की पूरी छूट देते थे, काम में ज्यादा हस्तक्षेप नहीं करते थे।

यह योजना किस की रहती थी कि यह करना चाहिए या वैसा करना चाहिए? आपकी या किसी और की?

योजनाएँ परिस्थितियाँ बनाती थीं। अब कीर्तन के लिए चौबीस-पचीस आदमी चाहिए तो उनके लिए मकान बनवाना है। उस समय जो मकान बनता था उसमें सुरखी और चूने का इस्तेमाल होता था। छत भी आर्च में बनती थी।

फिर सीमेंट का जमाना आया, तीन रुपया बोरा था सीमेंट। हरिद्वार के बगल में एक जगह थी मोतीचूर, वहाँ से बैलगाड़ी से सीमेंट लाते थे और उसके लिए परमिट नरेन्द्रनगर से लेना पड़ता था, छः मील दूर। पहले जिला मुख्यालय देहरादून था, आजादी के बाद नरेन्द्रनगर बना। सीमेंट, मिट्टी का तेल, चीनी वगैरह के लिए वहीं से परमिट लेना पड़ता था। मैं सबेरे जाता था, शाम को परमिट लेकर आता था। तेईस-चौबीस साल का जवान था, कुछ पता नहीं चलता था। अब होता तो छोड़-छाड़ कर भाग जाता, कौन उस झंझट में पड़े! इस तरह हम सब ने मिलजुल कर काम किया। किसी एक का नाम नहीं लिया जा सकता।

स्वामी शिवानन्द जी की दिनचर्या कैसी रहती थी?

वे अधिकतर अपनी कुटिया में रहते थे। सबेरे आठ बजे बाहर आते थे एक-दो घण्टे के लिए, फिर वापस चले जाते थे। शाम को फिर दो घण्टे बाहर आते थे, फिर लौट जाते थे। वे कुटिया में लिखते रहते थे, किसी से मिलते नहीं थे। वहाँ कोई और रहता भी नहीं था।

स्वामीजी का स्वभाव नरम था या कड़ा?

बहुत नरम स्वभाव के थे। दिल के बिल्कुल साफ। जो आदमी अच्छा होता है, उसे झूठ नहीं बोलना पड़ता। झूठ उसे बोलना पड़ता है जिसमें कुछ गड़बड़ होती है। उनका जीवन बेहद साफ-सुथरा और बेदाग था।

जब आप स्वामीजी के आश्रम में शामिल हुए, तब क्या आश्रम बन चुका था?

हाँ, संस्था पंजीकृत हो चुकी थी। स्वामीजी ने स्वयं उसका पंजीकरण अम्बाला में कराया। स्वामीजी पंजाब बहुत जाते थे। जैसे आजकल साधु-संन्यासी अमेरीका-इंग्लैण्ड बहुत जाते हैं, उन दिनों पंजाब और सिंध जाते थे, क्योंकि वहाँ बहुत चेले और आर्थिक सहयोग मिलता था। संस्था उस वक्त बन चुकी थी, मगर स्वामीजी के रहने के लिए अपना कोई मकान नहीं था। स्वर्गाश्रम का एक मकान था, उसी में एक कमरे में बीस रुपया महीना किराया देकर रहते थे। जिन्दगीभर किराये के मकान में रहे, अपने आश्रम के मकान में नहीं। जिस मकान में स्वामीजी की महासमाधि हुई, वह स्वर्गाश्रम ट्रस्ट का

था। अब स्वर्गाश्रम ट्रस्ट ने आश्रम को दे दिया है। एकदम गंगाजी के पास है। उसमें चार कमरे थे, जो एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। उस वक्त एक कमरे से दूसरे कमरे के बीच आर्च देकर जोड़ देते थे, बीम की पद्धति नहीं थी। बहुत पुरानी प्रणाली थी।

गंगाजी में जब बाढ़ आती थी तब उनके कमरे में भी पानी आ जाता था। दो-चार दिन के लिए वे स्थानान्तरित हो जाते थे, फिर वापस चले जाते थे। वे इस असुविधा को नजरन्दाज कर देते थे, क्योंकि वे गंगाजी के बड़े भक्त थे। वे कहा करते थे कि गंगा मेरी माँ है। कई बार लोग उनको बाहर देश-विदेश चलने के लिए कहते थे, लेकिन स्वामीजी कहते थे कि मैं गंगाजी के किनारे ही अपने प्राण त्यागना चाहता हूँ।

वे गंगाजी का ही पानी पीते थे। गंगाजी का पानी बरसात में बहुत मैला हो जाता है, उसमें बहुत बालू आ जाती है। उनके पास एक बहुत बड़ा लोटा था, जैसा पंजाबियों के यहाँ होता है, जिसमें लस्सी बनाते हैं। उस लोटे में फिटकरी डालते थे, फिटकरी से मैल नीचे बैठ जाती थी, उसी को छानकर पीते थे।

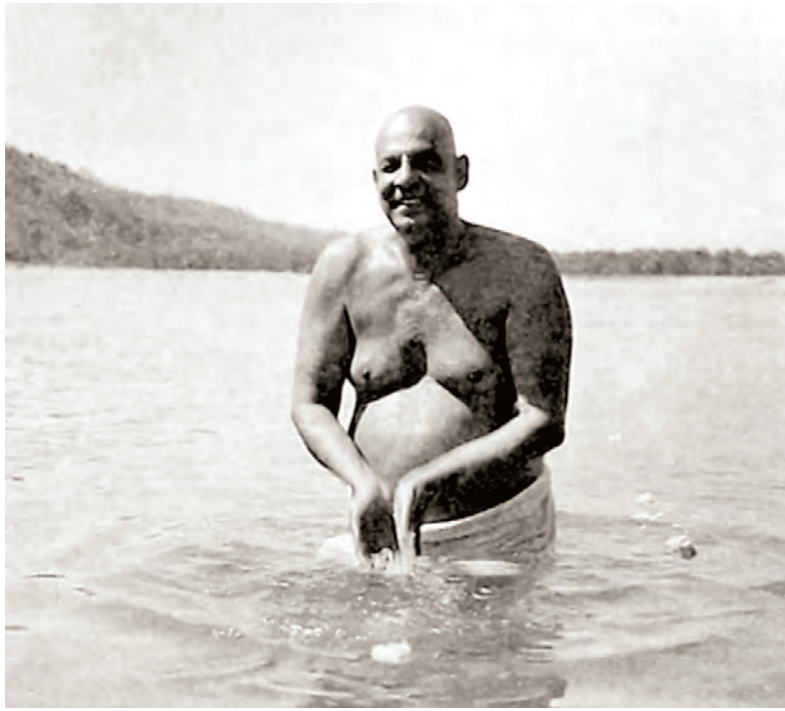

स्वामी शिवानन्दजी तो अच्छे लेखक थे न?

हाँ, बहुत अच्छे लेखक थे। वे अविरल गति से लिखते जाते थे, उनकी लिखाई में काट-छाँट नहीं होती थी। उनकी कलम को रुकने की जरूरत ही नहीं पड़ती थी। उनको जानकारी भी बहुत थी।

स्वामीजी मसालेदार भोजन करते थे या सादा?

स्वामीजी सबेरे-शाम दो फुलके लेते थे और साबुत मूँग की दाल उनको सबसे ज्यादा पसन्द थी। साबूत मूँग को उबाल दिया, जीरा डाल कर छोंक दिया और नमक डाल दिया। मसाला नहीं। वे चावल नहीं लेते थे। चाय-कॉफी तो कभी नहीं। हम ही लोग उनका खाना बनाते थे। दो-तीन महीने तो मैंने ही उनका खाना बनाया था।

स्वामीजी विनोदी स्वभाव के थे?

हाँ, बहुत ज्यादा। उनकी बहुत-सी किताबों में उनकी विनोदशीलता दिखाई पड़ेगी। उस समय के समाज की कई चीजों पर वे मीठे व्यंग कसते थे। स्वामीजी के वक्त साधुओं की एक नई पीढ़ी पैदा हुई थी, जो स्वामी विवेकानन्द जी से

प्रभावित थी। वे लोग स्वामी विवेकानन्द की तरह कपड़े पहनकर, माथे पर पगड़ी बाँधकर, जेब में फाउण्टेन पेन, हाथ में एक घड़ी और डायरी रखकर निकलते थे। ऐसे संन्यासियों पर स्वामीजी मजाक लिखते थे। गृहस्थों पर भी मजाक करते थे। लक्ष्मी जी और विष्णु जी का झगड़ा, शिव-पार्वती का झगड़ा या साधु लोग कैसे रहते हैं, वे इस प्रकार के बहुत व्यंग लिखते थे।

इस पर कोई पुस्तक है?

हाँ, 'विसडम इन ह्यूमर'। बहुत अच्छी किताब है। एक पण्डित जी थे, उनको भोजन का निमंत्रण दिया गया। लोगों ने उन्हें खूब खिलाया। अन्त में पण्डित जी बोले, 'अब और नहीं खा सकता।' लोगों ने कहा, 'अच्छा ऐसा कीजिए, आप पाचक चूर्ण ले लीजिए।' पण्डित जी बोले, 'पाचक चूर्ण के लिए जगह होती, तो दो लड्डू और न खा लेता!' इस तरह की बहुत-सी विनोदी कहानियाँ लिखी हैं उसमें।

साधु लोगों के बारे में स्वामीजी कहते थे कि वे दूसरों को तो वैराग्य का ज्ञान देते हैं, लेकिन अपने कमरे में किसमिस-बादाम खाते हैं! बोलते हैं हम पैसा नहीं छूते, मगर चेलों से सब काम करवाते हैं। स्वामीजी स्वामी

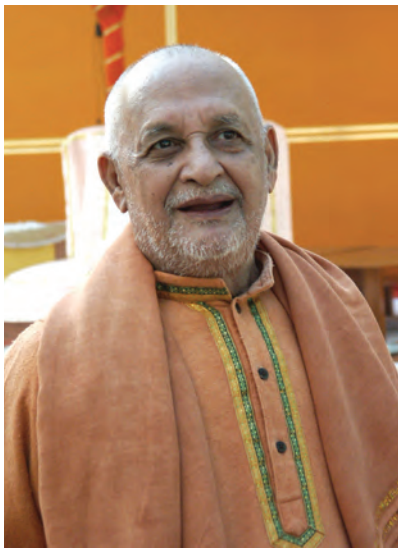

दयानन्द सरस्वती को बहुत मानते थे, हालाँकि उनके बारे में खुलकर ज्यादा कहा नहीं। उनका मानना था कि अगर स्वामी दयानन्द जी थोड़ी अंग्रेजी जानते तो दुनिया को सनातन धर्म का सच्चा संदेश दे सकते थे। स्वामी विवेकानन्द जी अंग्रेजी जानते थे और उनको बंगाली संरक्षण भी मिल गया, इसलिए वे विश्वविख्यात हो गए। लेकिन स्वामी दयानन्द जी अंग्रेजी नहीं जानते थे और संस्कृत को चला नहीं सके। जैसे आजकल जो महिला टेनिस खेल सकती हो, हाई-हील पर चल सकती हो, छोटे-छोटे बाल हों और अंग्रेजी बोल सकती हो, उसे ही सुसंस्कृत और कुशल पत्नी समझा जाएगा, भले ही उसे खाना बनाना या बच्चे का ख्याल रखना या सास-ससुर के आगे झुककर प्रणाम करना नहीं आता हो।

स्वामी शिवानन्द जी के कई योग्य संन्यासी निकले, उसका मुख्य कारण क्या है?

आजादी। वे कभी अपने शिष्यों को आदेश देने के आदी नहीं थे। अगर शिष्यों को मकान बनाना है तो बनाएँ, हमें उससे क्या। अगर आश्रम बनाना चाहते हो तो बनाओ, रहो। उन्होंने अपने शिष्यों को स्वेच्छानुसार सोचने, निर्णय लेने और काम करने की पूरी छूट दी थी। यही कारण है।

माता-पिता जब बच्चों को बहुत मार्गदर्शन देते हैं तब बच्चे सीमित हो जाते हैं। एक मर्यादा, एक सीमा में बन्ध जाते हैं। बच्चों का यदि मार्गदर्शन न करो तो फिर वे अपने ढंग से चलते हैं। उनमें कुछ अच्छे ढंग से चलते हैं, कुछ बुरे ढंग से। जो बुरे ढंग से चलते हैं, वे भी कुछ दिनों के बाद अच्छे हो जाते हैं, सुधर जाते हैं। बहुत ज्यादा झंझट नहीं होता, इसलिए बच्चों को आजाद रखना ही बेहतर है।

– 10 जुलाई 1999, रिखियापीठ

गुरु की अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ

14 जुलाई 1963 को मैं मुंगेर में अपने कमरे में सो रहा था कि अचानक मैंने आंतरिक जागृति प्राप्त की। मैं नहीं कह सकता कि उस समय मेरी चेतना का कौन-सा आयाम था। यहाँ मैं स्वप्न शब्द का प्रयोग नहीं कर रहा हूँ। मैं सो रहा था, सोते समय अचानक मेरी चेतना शारीरिक और मानसिक अनुभवों के परे चली गई। मैंने अपने को ऋषिकेश में गंगा तट पर पाया। मैंने देखा, एक छोटी मोटर-बोट गंगा में स्वर्ग आश्रम की ओर जा रही थी। उसमें से शंख, तुरही और घंटों की सुमधुर ध्वनि सुनाई पड़ रही थी। उसमें स्वामी शिवानन्द जी कुर्सी पर बैठे स्वर्ग आश्रम की ओर देख रहे थे, फिर उन्होंने कुछ क्षणों के लिए घूमकर मेरी ओर देखा। उसी समय मोटर-बोट के पहिये से पानी छिटककर मेरे ऊपर आ पड़ा और अचानक वह दृश्य समाप्त हो गया।

मैं उठ गया और कुछ देर तक असमंजस में रहा कि मैं ऋषिकेश में हूँ या मुंगेर में। पहले सोचा कि ऋषिकेश में स्वामी शिवानन्द जी को देख रहा था और शायद बाद में मुंगेर का सपना देखने लगा। चेतना का यह भ्रामक अनुभव मेरे लिए असहनीय हो गया। धीरे-धीरे मैंने अपने पर नियंत्रण प्राप्त किया, तब मैं समझ सका कि मैं ऋषिकेश में नहीं, मुंगेर में हूँ।

यह आन्तरिक अनुभव जीवन्त था, यह स्वप्न नहीं था। ऐसा लगने लगा कि मैं स्वामी शिवानन्द जी से मिलने इस पृथ्वी लोक को छोड़कर चन्द्र लोक गया था। यह अनुभव एकदम स्पष्ट था, जिसे मैंने पूर्ण जागरूकता की स्थिति में प्राप्त किया था। वास्तव में यह एक अतीन्द्रिय, शाश्वत अनुभव था, जिसने मुझे स्पष्ट संकेत दे दिया कि स्वामी शिवानन्द जी ने अपना पार्थिव शरीर छोड़ दिया है। अगले ही दिन मैं ऋषिकेश के लिए रवाना हो गया जहाँ पहुँचकर मेरा अनुमान सत्य निकला।

उनकी अंतिम क्रियाओं की समाप्ति के बाद मैं फिर मुंगेर लौट आया। एक रात आनन्द भवन में गहरी नींद में था कि मैंने पाया कि मेरा कमरा खुल गया है और स्वामीजी सशरीर वहाँ प्रवेश कर गए हैं। उनका शरीर हूबहू वैसा ही था जैसा मैं जानता था, इसमें कोई संदेह नहीं था। तब तक मैं पूरी तरह जग चुका था और स्वामीजी मुझसे बात करने लगे, अंग्रेजी में नहीं, बल्कि तमिल में।

उन्होंने कहा, 'तुमने अपने लिये अब क्या कार्यक्रम निर्धारित किया है?' मैंने कहा, 'स्वामीजी, मेरा अभी कोई प्रोग्राम नहीं है।' उन्होंने तब कहा, 'क्यों न तुम एक ज्योति जलाकर उस योजना अनुसार कार्य करो जो हमने 1943 में बनाई थी?'

शिवानन्द आश्रम, ऋषिकेश की आधारशिला एक ही प्रयोजन हेतु रखी गई थी – विभिन्न देशों में मात्र शिष्य नहीं, योग के विशेषज्ञ तैयार करना। स्वामीजी चाहते थे कि इन विशेषज्ञों की योग के हर पहलू पर गहरी पैठ हो, लेकिन हुआ यह कि उनके पास शिष्य तो बहुत थे, परन्तु विशेषज्ञ कोई नहीं। इसके कई कारण थे। स्वामी शिवानन्द जी के पास धनराशि ज्यादा नहीं थी और उन्हें बहुत सारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। इसलिए उन्होंने मुझसे कहा, 'क्यों न तुम हमारी उस योजना के अनुसार कार्य जारी रखो?' मैंने कहा, 'यदि आपकी यही इच्छा है तो मैं ऐसा ही करूँगा।'

दूसरी बात जो उन्होंने कही वह थी, 'तुम्हें ऋषिकेश के शिवानन्द आश्रम का कार्यभार लेने की आवश्यकता नहीं।' स्वामीजी की समाधि के बाद दिव्य जीवन संघ के न्यासियों ने स्वामी चिदानन्द, स्वामी वेंकटेशानन्द, स्वामी विष्णुदेवानन्द और स्वामी सच्चिदानन्द जैसे कुछ प्रमुख शिष्यों को बैठक के लिए बुलाया था जहाँ स्वामीजी के स्थान पर संघ के अगले प्रमुख का चयन हो सके। मुझे भी पत्र आया था। इस बारे में मेरी राय एकदम स्पष्ट थी कि मैं यह जिम्मेदारी नहीं लूँगा। मुझे यह सब एक बहुत बड़ा सिरदर्द लगता था। स्वामीजी ने मुझसे कहा, 'तुम्हें ऋषिकेश जाने की कोई जरूरत नहीं। तुम यहाँ मुंगेर में ही रहो। ऋषिकेश में तुम हमेशा बॉनसाई बने रहोगे, यहाँ पर तुम अश्वत्थ बनोगे।' यह सब 1963 के अगस्त महीने में मेरे स्वामीजी के समाधि अनुष्ठान से लौटने के बाद हुआ। पाँच महीने बाद, 19 जनवरी 1964 को मुंगेर में बिहार योग विद्यालय का उद्घाटन समारोह हुआ और तब से सब कुछ बहुत तेजी से विकसित होने लगा।

अभी भी मुझे अपने गुरुजी की झलकें दिखाई पड़ती हैं, बिल्कुल स्पष्ट। मेरे लिए वे मृत नहीं हैं, क्योंकि शरीर की मृत्यु एक परिवर्तन मात्र है। शारीरिक मृत्यु किसी भी हाल में पूर्ण विलय की सूचक नहीं है। मुझे उनकी झलक साफ दिखती है, विशेषकर जब भी मैं इस संसार और यहाँ के संसारी लोगों से तंग आ जाता हूँ। उस समय मन में यह विचार आता है कि प्रिंटिंग प्रेस और आश्रम को बंद कर सब कुछ बेच दूँ। सारी रकम किसी अस्पताल या अनाथालय या किसी अन्य दातव्य संस्था को दान कर इस सबसे मुक्ति पा लूँ, भाड़ में जायें ये लोग! ऐसा मैंने कई बार सोचा और ठीक उसी दिन गुरुजी की झलक दिख जाती। उसमें वे यह नहीं कहते कि ऐसा मत करो, परन्तु कोई नया विचार, कोई नई दिशा देकर मुझे उसे करने के लिए प्रेरित करते हैं!

मेरे ख्याल से यह सन् 1975 की बात थी जब मैं कोलंबिया, दक्षिण अमेरिका से लौटा था। मैं कुछ संन्यासियों के व्यवहार से तंग आ चुका था। मैं सब कुछ बेचकर राशि दान कर देने का प्रस्ताव आश्रम समिति में पारित कराने वाला था, 'मुझे यह आश्रम नहीं चाहिए। अगर आप लोगों को चाहिए तो आप ही इसे चलाएँ।' उसी रात गुरुजी आये और बोले, 'आश्रम के सामने जो पहाड़ी है, तुम्हें उसे खरीद लेना चाहिए।' यह गंगा दर्शन है, जहाँ नया आश्रम बन रहा है और जहाँ अन्तरराष्ट्रीय अनुसंधान केन्द्र की स्थापना होगी। मुझे उस समय पता ही नहीं था कि इसका मतलब क्या है। मैं जब उस जमीन

को खरीदने चला तो वह बहुत महंगी थी और उसका मालिक उसे बेचना भी नहीं चाहता था। उसने कहा, 'पहली बात तो यह पुश्तैनी जायदाद है, इसलिए मैं इसे नहीं बेचूँगा। दूसरी बात, यह एक ऐतिहासिक स्थान है, इसलिए मैं इसे बेच भी नहीं सकता।' सरकार ने आपत्ति की, पुरातत्व विभाग ने आपत्ति की और दस्तावेज़ इधर-उधर घूमते रहे। भारतीय संसद में भी इस पर चर्चा हुई कि क्या इसे मंजूरी दे दी जाए। आखिर में मैंने वह जमीन बहुत सस्ते में खरीदी!

उस जमीन के साथ कुछ और समस्याएँ भी थीं। एक दिन मैंने सोचा, 'अगर यही सब परेशानियाँ होने वाली हैं और इनके लिए मुझे कचहरी जाना पड़ेगा तो यह सब मुझे नहीं चाहिए। मैं जमीन के लिए अदालत क्यों जाऊँ? वे सभी भाड़ में जाएँ।' मैंने संन्यासियों से कहा, 'देखो, मैं कोर्ट-कचहरी नहीं जाने वाला। अगर सरकारी विभाग बोलते हैं कि यह जमीन बेची नहीं जा सकती, इस पर इमारतें नहीं बन सकतीं तो मैं इस पूरी योजना को रद्द कर दूँगा। मुझे रुपये-पैसों से कोई मतलब नहीं।'

उसी रात फिर झलक मिली। गुरुजी ने सभी भवनों का पूरा नक्शा दे डाला। जो भी भवन वहाँ बनेंगे, उन्हें मैं पहले ही देख चुका हूँ। आप इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। मैंने सभी भवनों को देखा है, वे किस प्रकार से बनेंगे, उनमें किस तरह के कमरे होंगे। स्वामीजी ने आकर कहा, 'यह रहा तुम्हारा गंगा दर्शन' और सब कुछ वैसे ही साकार होने लगा।

श्रद्धा की असीम शक्ति

मुझसे प्रायः पूछा जाता है कि शिष्य के कर्मों के प्रसंग में गुरु की क्या भूमिका होती है। इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देना कठिन है, क्योंकि सब कुछ उनके सम्बन्धों की गहराई पर निर्भर रहता है। अगर शिष्य स्वयं को पूर्णतया गुरु पर छोड़ देता है तो वे उसकी नियति की बागडोर पूर्णरूपेण सँभाल लेते हैं, किन्तु यदि सम्बन्ध स्वार्थपूर्ण प्रयोजनों पर आधारित होता है तो गुरु की सहायता प्राप्त होती तो है, लेकिन वे उसकी नियति के बोझ को स्वीकार नहीं करते हैं।

सिर्फ गुरु ही क्यों, इस चर्चा में हम ईश्वर को भी समाविष्ट कर सकते हैं। ईश्वर आपकी समस्त बाधाओं और कठिनायों को जादू की तरह क्षण भर में दूर कर सकते हैं। यदि आप दृढ़ विश्वास से युक्त होकर, मन एवं भावनाओं को संयत कर गहराई में उतर कर प्रार्थना करें तो आपकी सभी समस्याएँ सहजता से सुलझ सकती हैं। यह बहुत सरल प्रक्रिया है, पर लोग ऐसा कर नहीं पाते हैं। ऐसी स्थिति में ईश्वर क्या कर सकते हैं? यदि आपका 'टेलीफोन' और 'टेलीग्राम' उनके पास नहीं पहुँच सकेगा तो उनकी सहायता उपलब्ध नहीं हो पायेगी। जो बात ईश्वर के साथ लागू होती है वही गुरु के साथ भी लागू होती है। यदि आप नम्रतापूर्वक स्वयं को गुरु या ईश्वर को पूर्णतः समर्पित कर दें तो आपकी नियति उनकी नियति हो जायेगी।

अपने देश में *'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'* की प्रार्थना की जाती है जिसमें ईश्वर से कहा जाता है कि आप ही मेरे माता-पिता हैं, आप ही मेरे भाई और मित्र हैं, आप ही विद्या और धन-सम्पत्ति हैं तथा आप ही मेरे सर्वस्व हैं। एक बार कुछ धनी लोग मन्दिर में गये, मन्दिर के दरवाजे पर उन्हें जूते खोलने पड़े। वे जब तक मन्दिर में प्रार्थना करते रहे, उनकी एक आँख जूते पर ही लगी रही। 'आप ही मेरे माता-पिता हैं, भाई, मित्र और सर्वस्व हैं' चलता रहा और वे जूते की ओर भी देखते रहे। वे क्षणभर के लिये भी अपने को ईश्वर को समर्पित न कर सके। जब तक प्रार्थना चलती रही, उनका मन जूते पर लगा रहा। इस प्रकार भी गुरु और ईश्वर के प्रति दिखावे की भक्ति का अभ्यास किया जाता है।

इसी प्रकार का एक दूसरा दृष्टान्त है। एक मन्दिर में कुछ लोग देवता की आरती और प्रार्थना कर रहे थे। प्रार्थना थी कि 'मैं धन-सम्पत्ति, सुख-चैन, वासना की पूर्ति आदि नहीं चाहता हूँ, मुझे तो सिर्फ आपकी कृपा चाहिये।'

प्रार्थना करते समय प्रायः भक्तगण देवी-देवता को सिक्के चढ़ाते हैं। एक सिक्का जमीन पर एक व्यक्ति की बगल में गिर पड़ा। तत्काल उसने उसे अपने पैर से ढक दिया और उस समय वह प्रार्थना कर रहा था कि 'मुझे धन नहीं चाहिये, सम्पत्ति नहीं चाहिये', किन्तु एक रुपये का वह सिक्का उसे चाहिये था!

बुद्धि और विश्वास

हमें ईश्वर के प्रति अपने विश्वास और समर्पण का विश्लेषण करना चाहिये। गुरु और ईश्वर की कृपा की वर्षा तो प्रत्येक व्यक्ति पर होती रहती है, किन्तु उसे प्राप्त करने के लिये आपको खुला और ग्रहणशील होना पड़ेगा।

श्रद्धा से बड़ी कोई शक्ति नहीं है, इसके द्वारा कुछ भी सम्भव है, और श्रद्धा का सबसे बड़ा शत्रु है बुद्धि। इन दोनों के बीच कदापि सह-अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता। जिस प्रकार किसी व्यक्ति की दो पत्नियों के बीच पारस्परिक प्रेम असम्भव है, बुद्धि और विश्वास के साथ भी यही बात लागू होती है, वे एक-दूसरे की सौतन के समान हैं।

प्रायः हम सबके लिये श्रद्धा एक भ्रामक विषय है। सामान्यतः इसका तात्पर्य यह लगाया जाता है कि आप बौद्धिक रूप से किसी बात को स्वीकार करते हैं। किन्तु श्रद्धा का अर्थ इससे बहुत अधिक है। यह एक उच्च शक्ति

है। प्रायः हमारा एक विचार या धारणा होती है और हम गलती से उसे श्रद्धा मान लेते हैं। विचार, धारणा या बुद्धि चूक सकती है, किन्तु श्रद्धा अमोघ और अचूक है। ऐसा इसलिये है कि यह मन की अभिव्यक्ति नहीं है। आप मन के द्वारा इसे समझते हैं, किन्तु मन के द्वारा इसे अभिव्यक्त नहीं करते। इसका एक भिन्न स्रोत और एक भिन्न मार्ग होता है।

श्रद्धा विचार से बहुत अधिक गहरी होती है, यह अन्तरात्मा की एक अभिव्यक्ति है। जब आप विकास के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं, तो अनेक चीजें, बातें, भावनायें, स्मृतियाँ और इन्द्रिय-विषय पीछे छूट जाते हैं। आप अनुभूति की एक उच्च अवस्था में पहुँच जाते हैं जहाँ मन के एक विशेष क्षेत्र में आने वाली चीजें वास्तविक मालूम पड़ने लगती हैं। यही अनुभूति श्रद्धा और विश्वास का आधार है।

अपनी श्रद्धा की रक्षा कीजिये

आपने सन्तों, भक्तों और चमत्कारी व्यक्तियों की अनेक कहानियाँ पढ़ी होंगी। उनके जीवन में ऐसी घटनाएँ घटी हैं जिनका मानवीय बुद्धि से विश्लेषण नहीं किया जा सकता। ऐसा श्रद्धा के कारण हुआ है। इसलिए आपको अपनी श्रद्धा की रक्षा सतर्कतापूर्वक करनी है, क्योंकि बुद्धि और तर्क श्रद्धा की हत्या कर देते हैं। यदि श्रद्धा और बुद्धि के भेद को ठीक से समझा जाय तो अपनी-अपनी दिशाओं में दोनों का साथ-साथ विकास हो सकता है।

श्रद्धा की रक्षा करने, इसे बढ़ने और अधिक गहराई से अनुभव करने के लिये भक्त और भगवान या गुरु और शिष्य का सम्बन्ध सर्वश्रेष्ठ साधन है, किन्तु यह सम्बन्ध जीवन्त श्रद्धा पर आधारित होना चाहिये। आपको विश्वास करना होगा, ठीक वैसे ही जैसे आप अपनी माँ पर विश्वास करते हैं। आप कैसे जानते हैं कि वे आपकी माँ हैं? यह श्रद्धा की बात है। इसी प्रकार आपको ईश्वर और गुरु में भी श्रद्धा करनी होगी।

प्रायः हम सभी ईश्वर में विश्वास करते हैं, उनसे प्रेम करते हैं, उनकी पूजा करते और उनका सम्मान करते हैं, किन्तु परिणाम कुछ होता नहीं। क्यों? इसलिए कि यह श्रद्धा पर निर्भर रहता है। हमने प्रेम, पूजा, श्रद्धा जैसी अच्छी बातें अपने माता-पिता से सीखी हैं, किन्तु ये हमारे लिए जीवन्त अनुभव नहीं बने हैं। बहुत-से लोग तो ईश्वर में अपने उस अल्प विश्वास की भी हत्या कर देते हैं, जिसके आधार पर उनका मनोभावनात्मक अस्तित्व कायम रहा है। अनेक

लोग तो यह भी कहते हैं कि ईश्वर है ही नहीं और इस सम्बन्ध में वे तर्क भी देते हैं। इस प्रकार वे दैवी शक्तियों से अपने एकमात्र सम्पर्क को नष्ट कर देते हैं।

अपने विश्वास और श्रद्धा की रक्षा करना आवश्यक है। इस हेतु गुरु-शिष्य सम्बन्ध जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण निधि है। जीवन के उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है, किन्तु इसे बनाये रखना कठिन है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति में कैसे श्रद्धा करे? यदि आप मनुष्य हैं तो आप कुछ भी क्यों न हों, आप सीमित हैं, अपूर्ण हैं। शरीर तो स्वयं ही अपूर्णता का प्रतीक है। आपका जन्म हुआ है और देहान्त भी होगा। आपको अमर होना चाहिये, किन्तु शरीर नाशवान् है।

जब गुरु भौतिक शरीर धारण कर जन्म लेते हैं तो वे स्थूल स्तर पर रहते हैं और प्रकृति के नियमों का शिकार होते हैं। वे भोजन करते हैं, सोते हैं तथा अन्य लोगों की तरह ही बातें करते हैं। आप कोई भी क्यों न हों, मानव शरीर धारण करते ही आप सीमित हो जाते हैं। जब शिष्य गुरु की सीमाओं के बारे में सोचता है तो उसका विश्वास घटने लगता है, क्योंकि उसे अपने तथा गुरु के बीच कम अन्तर मालूम पड़ता है। वह चाहता है कि गुरु कुछ चमत्कारों का प्रदर्शन करें ताकि उनमें उसकी श्रद्धा सशक्त हो सके, लेकिन गुरु कभी भी ऐसा नहीं करते। चमत्कार तो एक जादूगर भी कर सकता है, इसलिए यह श्रद्धा विकसित करने का आधार नहीं हो सकता।

मतभेद दूर कीजिये

श्रद्धा शिष्य की सर्वोत्तम सम्पत्ति है। यदि श्रद्धा है तो सब कुछ है और श्रद्धा के बिना आपके पास कुछ भी नहीं। श्रद्धा बाह्य क्रिया-कलापों का परिणाम नहीं है, इन्द्रिय एवं मानसिक प्रक्रियाओं से भी इसका कोई संबंध नहीं। इसकी उत्पत्ति अन्तरात्मा की सतत् सजगता से होती है। आप ज्यों-ज्यों अपने अन्तरतम की गहराई में उतरते हैं, आपको आन्तरिक प्रकाश का दर्शन होता है और आपकी श्रद्धा सशक्त होती जाती है। जहाँ श्रद्धा है वहीं शक्ति और प्रकाश है।

श्रद्धा ही शिष्य के जीवन का आधार है। यदि गुरु के व्यवहार से शिष्य की श्रद्धा भंग हो जाय तो समझना चाहिये कि उसका सब कुछ खो गया है। श्रद्धा के एक बार नष्ट हो जाने पर उसका पुनर्निर्माण बहुत कठिन होता है। मनुष्य होने के नाते गुरु में सम्भवतः कुछ त्रुटियाँ हो सकती हैं, किन्तु इसके साथ ही शिष्य को भी अपने उत्तरदायित्वों से नहीं भागना चाहिए। उसे सोचना

चाहिये कि जब उसने गुरु का चयन किया तो वह सही था या गलत। अब किसी विशेष परिस्थिति में, जो शिष्य के लिये सुखद नहीं है, वह गुरु में कुछ दोष देखता है, जो गुरु में हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता।

ऐसी स्थिति में उसे शीघ्र ही गुरु के समीप जाकर अपनी मानसिक अवस्था से उन्हें अवगत कराना चाहिये। उनके समक्ष अपना दृष्टिकोण बल देकर प्रस्तुत करना चाहिये ताकि वे उसकी समस्या को ठीक से समझ सकें। अपने गुरु को बुरा मानकर उनसे दूर भागना तथा उनके बारे में दुष्प्रचार करना शिष्य के लिए कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। यदि उनके बीच खुलकर बातचीत हो तो शिष्य की अनेक जटिलताओं और समस्याओं का समाधान सहजता से हो सकता है।

शिष्य की विशेषता

इस विषय में एक अन्य दृष्टिकोण भी है। कभी-कभी शिष्य गुरु से अपनी श्रद्धा द्वारा बँधा होता है, उनकी ऊँची योग्यता द्वारा नहीं। इस प्रकार के सम्बन्ध में शिष्य में ही विशिष्ट गुण होते हैं, गुरु में नहीं। वह पूर्ण श्रद्धा और अटल भक्ति से युक्त होता है तथा उसमें आलोचनात्मक बुद्धि का सर्वथा अभाव होता है। उसके लिये इस बात का कोई महत्त्व नहीं होता कि गुरु कितना अधम और ढोंगी है। यदि वह पूर्ण श्रद्धा से युक्त है तो अपने आन्तरिक गुरु से अवश्य ही उसका साक्षात्कार होगा। ऐसा शिष्य अपने गुरु से श्रेष्ठतर होता है।

यदि शिष्य के अन्दर श्रद्धा है और गुरु में इसका अभाव है तो समस्त कार्य पूर्णरूपेण सम्पादित होते हैं। यदि गुरु के अन्दर श्रद्धा है और शिष्य इससे रहित है तब भी बात बन सकती है, किन्तु यदि दोनों में श्रद्धा की शक्ति का अभाव हो तो स्थिति निराशाजनक है और तब उनका आध्यात्मिक पतन अवश्यम्भावी है। किन्तु मैं मानता हूँ कि ऐसी स्थिति शायद कभी भी उत्पन्न नहीं होती।

चमत्कारों की जननी

यदि आपमें श्रद्धा है तो ऊँची अपेक्षाएँ रख सकते हैं। श्रद्धा को सशक्त बनाकर महान् कार्यों का सम्पादन किया जा सकता है। विभिन्न धार्मिक कर्मकाण्डों और अनुष्ठानों का प्रमुख लक्ष्य श्रद्धा को पुनर्जीवित करना और दृढ़ बनाना है। श्रद्धा के अभाव में आप कुछ भी आशा मत कीजिये, इसके बिना जीवन में कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। श्रद्धा के समाप्त होने से दिल टूट जाता है, निराशा धर दबाती है और आप कुछ भी करने लायक नहीं रह जाते।

योग या मन्त्र का अभ्यास करने तथा गुरु के निकट जाने से आपकी श्रद्धा मजबूत होती है। अपनी श्रद्धा को सदैव मजबूत बनाये रखने के लिये आपको गुरु से आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। यदि आप उन पर सन्देह करने लगे हैं या आपके मन में उनके प्रति नकारात्मक विचार उभरने लगे हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि आप अपनी श्रद्धा की हत्या कर रहे हैं।

साधक को इस बात के प्रति अत्यधिक सतर्क रहना चाहिये कि उसकी श्रद्धा भ्रान्तियों से ग्रस्त न हो। यदि आपका स्वास्थ्य, धन-सम्पत्ति आदि नष्ट हो गया है और आप दीन-हीन हो गये हैं तो चिन्ता की कोई विशेष बात नहीं है, लेकिन हर परिस्थिति में अपनी श्रद्धा की रक्षा कीजिये। यदि जीवन में आप सब कुछ खो चुके हैं तो श्रद्धा के द्वारा उन्हें पुनः प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि यह चमत्कारों की जननी है। यदि आप दृढ़ श्रद्धा से युक्त हैं तो आपके लिये कोई भी कार्य या उपलब्धि असम्भव नहीं है।

यह हमेशा याद रखिये कि श्रद्धा एक सबल शक्ति है। सशक्त श्रद्धा द्वारा आप प्रकृति तथा भौतिक पदार्थों को नियंत्रित कर सकते हैं। श्रद्धा को मजबूत बनाने के प्रसंग में गुरु का स्थान सर्वप्रथम होता है। अपना शरीर, मन और आत्मा उनको समर्पित कीजिये। आप उनके हैं और वे आपके। जब आपके मन में नकारात्मक विचार उत्पन्न होने लगें तो सावधान हो जाइये कि माया का खेल हो रहा है, यह पतन का कारण हो सकता है।

सत्यम् संवाद

गुरु-शिष्य में क्या सम्बन्ध होता है और उनका परस्पर क्या कर्तव्य है ?

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र, पति-पत्नी या मित्र-मित्र के सांसारिक रिश्ते-नाते से भी गहन और महान् होता है। पति पत्नी के बिना रह सकता है, पत्नी पति बिना रह सकती है, लेकिन गुरु और शिष्य का सम्बन्ध अभिन्न होता है।

स्वामी शिवानन्द जी ने अपनी पुस्तक 'गुरु और शिष्य' में लिखा है, 'साधक के अज्ञान को हटाकर आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ाने के लिये

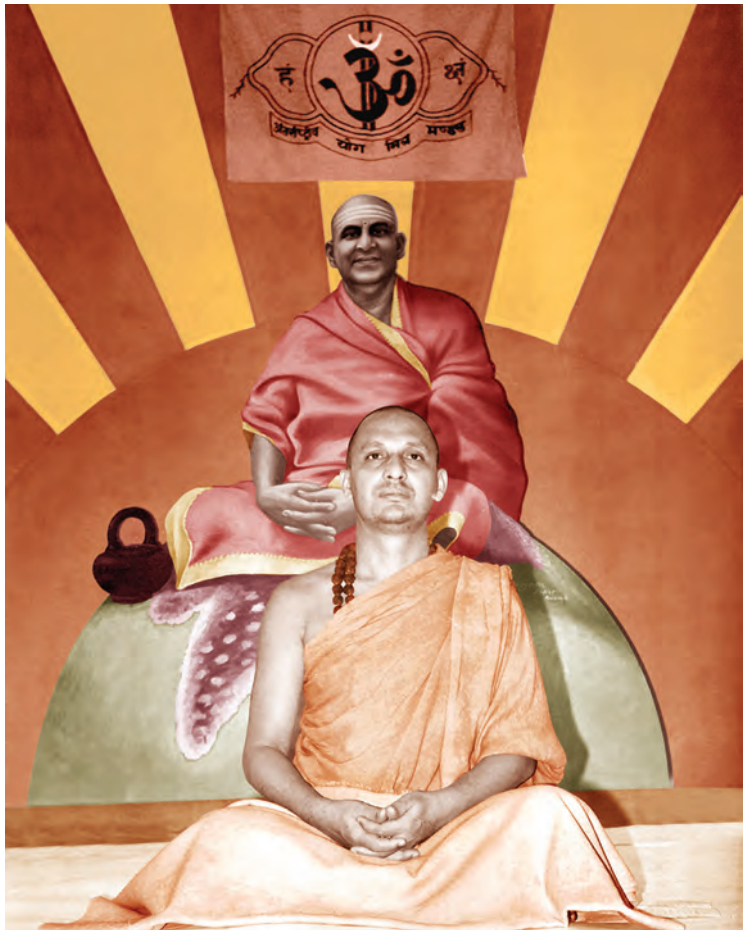

सहायता करना गुरु का प्रमुख कर्तव्य है। इसके लिये गुरु अपने शिष्य को शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक आदि विविध साधनाओं का अभ्यास करवाते हैं तथा शिष्य को उचित मार्ग पर आगे बढ़ने में मदद करते हैं।'

शिष्य का परम कर्तव्य है गुरु की सेवा करना, गुरु आज्ञा का पालन करना, गुरु से ज्ञानार्जन कर आत्म-शुद्धि के लिये स्वयं प्रयत्नशील रहना। जो शिष्य आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होना चाहते हैं, उनके लिये गुरु अनिवार्य है। उनका परस्पर उचित सम्बन्ध होना बहुत महत्त्व का है। ध्यानयोग का अभ्यास करने वालों को राजयोगी, कर्मयोग वालों को कर्मयोगी तथा भक्तियोग वालों के लिये भक्तियोगी गुरु की आवश्यकता होती है।

गुरु का चयन किस आधार पर होना चाहिये ?

गुरु का चयन श्रद्धा और विश्वास के आधार पर होना चाहिये। जिनमें श्रद्धा एवं विश्वास है, उनको सद्गुरु की प्राप्ति निश्चत रूप से होती है। फिर भी यदि गुरु को परखना हो तो गुरु बनाने के पहले ठोक-बजा लो। एक बार गुरु बना लिया सो बना लिया, फिर गुरु बदला नहीं जाता। कहा भी गया है – पानी पीना छान कर, गुरु बनाना जानकर।

अध्यात्म पथ के जागरूक पथिक छोटे-मोटे चमत्कारों से प्रभावित नहीं होते। आध्यात्मिक स्तर पर आत्मानुभूति-युक्त गुरु का स्थान सर्वोच्च है। यह सूक्ष्म स्तर के आगे की स्थिति है, जहाँ सिद्धियों की उपलब्धि होती है। कुछ गुरु सिद्धियों की मदद से शिष्य को प्रभावित करते हैं। गुरु के प्रति श्रद्धा और विश्वास ही एकमात्र साधन है, जिस पर अटल रहने वाले शिष्य कभी फेल नहीं हो सकते। यह काफी हद तक स्व-चेतना के स्तर पर भी निर्भर करता है। जब पैसों की चाह होती है, पैसा मिल जाता है। फलों की चाह होती है, फल मिल जाते हैं। इसी प्रकार अज्ञान तथा स्वार्थ-सिद्धि के आधार पर गुरु खोजोगे तो चमत्कार प्रदर्शन करने वाले गुरु ही मिलेंगे।

क्या गुरु को शिष्य की तलाश रहती है या शिष्य गुरु को खोजता है?

कुछ विशेष परिस्थितियों में जब गुरु का एक विशेष प्रयोजन होता है, उसकी पूर्ति हेतु आध्यात्मिक स्तर पर उन्हें कुछ संकेत मिलते हैं। उन संकेतों के आधार पर वे शिष्य की तलाश करते हैं। वे संकेत हमेशा स्पष्ट नहीं होते। कभी चहरे की अस्पष्ट झलक मिलती है, कभी आवाज या स्थान के संकेत

मिलते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शिष्य गुरु को स्वप्न में देखता है, जबकि उसने पहले कभी भी गुरु को स्थूल रूप में नहीं देखा। अतएव शिष्य अपने स्वप्न में प्रकट हुए गुरु की खोज करता है। जब किसी का उद्देश्य ही आध्यात्मिक जीवन यापन करना हो जाता है तो वह गुरु की तलाश करने लगता है और ठीक समय पर गुरु उसके पास या वह गुरु के पास पहुँच जाता है।

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध पूर्व जन्म का होता है। इस जन्म में भी वे परस्पर मिल जाते हैं। हो सकता है इस बीच उन्हें एक जन्म अलग रहना पड़े, परन्तु कभी-न-कभी वे जरूर मिलेंगे। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाये तो जन्म-जन्मान्तर में गुरु एक ही होता है।

क्या किसी ऐसे व्यक्ति से मन्त्र ग्रहण करना चाहिये, जिसे हम गुरु नहीं मानते हों?

मन्त्र केवल गुरु से लेने पर ही प्रभावशाली होता है। गुरु ही एकमात्र व्यक्ति है जिनसे मन्त्र लिया जा सकता है। मन्त्र गुरु-शिष्य सम्बन्ध की प्रथम कड़ी है। इसके बिना दीक्षा पूर्ण नहीं होती। किसी भी परिस्थिति में मन्त्र और गुरु को बदलना नहीं चाहिये। जब गुरु मन्त्र देते हैं तो पहले ही मालूम कर लेते हैं कि साधक उसका अधिकारी है अथवा नहीं। लगभग अस्सी प्रतिशत गुरु निश्चित रूप से मन्त्र के माध्यम से कुछ विशिष्ट चुम्बकीय शक्ति अपने शिष्यों में प्रतिरोपित करते हैं। यदि शिष्य इसके लिये तैयार नहीं है तो शिष्य का मानसिक और स्नायविक संन्तुलन बिगड़ सकता है। यह इलेक्ट्रिक शॉक की तरह होता है जो मनुष्य की मानसिक स्थिति को प्रभावित करता है। कुछ मामलों में यदि व्यक्ति भावुक प्रकृति का रहा तो वह पागल भी हो सकता है।

दीक्षा का अर्थ है देने की इच्छा। अत: मन्त्र-दीक्षा का अर्थ है, मन्त्र देने की इच्छा। कुछ और भी उच्च दीक्षायें हैं। जब तक शिष्य तन, मन तथा अन्य सभी दृष्टिकोणों से सक्षम और नियंत्रित न हो, गुरु उन्हें दीक्षित नहीं करते। उदाहरण के तौर पर, गुरु अपना शरीर छोड़ने से पहले अपनी कुछ आध्यात्मिक शक्तियों का शिष्यों में वितरण करना चाहते हैं। इस कठिन कार्य को बड़ी सावधानीपूर्वक करना पड़ता है। सबसे पहले गुरु बड़ी सतर्कता से देखता है कि शिष्य का मन पूर्णरूपेण नियंत्रित तथा स्थिर है अथवा नहीं। इसकी पहचान के लिये गुरु उसे अनेक प्रकार के भय या प्रलोभन दिखाकर उसके मन के सन्तुलन को परखते हैं। इस प्रकार जब शिष्य भौतिक दु:ख-

सुख से ऊपर उठ जाता है, वह उच्च आध्यात्मिक तरंगों को ग्रहण कर निम्न स्तरीय तरंगों के प्रभावों से अछूता रहता है। तब वह उच्च आध्यात्मिक शक्तियों के परम्परागत ज्ञान का अधिकारी बनता है। प्रत्येक शिष्य को इस गुण का अर्जन करना है।

मन्त्र-दीक्षा के बाद साधक शिष्य कहलता है। मन्त्र जप द्वारा गुरु-शिष्य सम्बन्ध सुदृढ़ होता है। इस तरह परस्पर सम्बन्ध स्थायी होने से गुरु के विचार शिष्य को माध्यम बनाकर क्रियाशील होने लगते हैं। शिष्य को ध्यान का अभ्यास नियमित रूप से करना चाहिये। ध्यान का अभ्यास अहर्निश करने से गुरु-शिष्य सम्पर्क स्थायी रहता है। इससे शिष्य की चेतना के विकास में योग्य मार्गदर्शन और मदद मिलती है। इस प्रकार साधना को अधिक कार्यसक्षम तथा लाभप्रद बना सकते हैं। इस स्थिति में गुरु का अचेतन मन क्रियाशील रहता है, चेतन मन नहीं। अचेतन मन के स्तर पर वे सभी देहदारी आत्माओं से सम्पर्क रखते हैं तथा विचारों एवं भावनाओं का आदान-प्रदान करते हैं।

इस आंतरिक सम्पर्क के कारण गुरु अपने शिष्य के अस्थिर मन तथा उस पर भविष्य में आने वाले संकट आदि को पहले ही जान लेते हैं। यदि गुरु सही रूप से सामर्थ्यवान् तथा शक्तिसम्पन्न हैं तो शिष्य के पुराने कर्मों के संस्कारों को मिटा सकते हैं, बदल सकते हैं। गुरु सदैव सतर्क रहते हैं क्योंकि उन्हें मालूम रहता है कि शिष्य किसी-न-किसी अवस्था में उन्हें छोड़कर चला जायेगा। इसलिये वे निश्चिन्त होना चाहते हैं कि शिष्य अहंकार रहित हो गया है और परस्पर सम्बन्ध में दृढ़ता तथा एकता आ गई है।

दीक्षा की अनेक शास्त्रीय विधियाँ हैं। मंत्र-दीक्षा में हम अग्नि प्रज्ज्वलित कर हवन करते हैं। अग्नि ज्ञान का द्योतक है और चेतना के विकास की गति को दर्शाकर अन्त में आत्म-ज्ञान को प्रकाशमान करती है। कुण्डलिनी शक्ति अग्नि सदृश है। वह प्रज्ञा तथा आत्म-ज्ञान को प्रकाशित करती है। अग्नि ही नहीं, और भी अनेक वस्तुयें हैं जिन्हें प्रतीक के रूप में विविध धर्मों के लोग उपयोग करते हैं। जैसे पारसी जल और अग्नि का प्रयोग करते हैं, ईसाई जल का प्रयोग करते हैं, हिन्दू अग्नि और पुष्प का प्रयोग करते हैं। दीक्षा नदी किनारे, वृक्ष के नीचे, जंगल में, आश्रम में, गिरजाघर में या कमरे में भी ले सकते हैं। दीक्षा के समय शान्त वातावरण, शरीर स्थिर, मन तनाव रहित तथा ग्रहणशील होना चाहिये। स्वामी शिवानन्द जी जैसे कुछ महान् योगी पत्र द्वारा भी दीक्षा दिया करते थे। यहाँ तक कि सर्पदंश के विष का प्रभाव भी पत्र द्वारा समाप्त किया जा सकता है, परन्तु ऐसा बहुत कम लोग कर सकते हैं।

शिष्य का भविष्य कैसे प्रकट होता है?

यह भविष्य कथन संकेत के द्वारा मौखिक रूप से हमें दिया जाता है, जिसे हम कंठस्थ कर लेते हैं और ठीक समय पर शिष्य को बतलाते हैं। यह हमेशा स्पष्ट रूप में सत्य प्रतीत होता है। कभी-कभी यह पद्य अथवा गद्य द्वारा प्रकट किया जाता है। इससे अनुमान लगाया जाता है कि कितने और कौन-कौन लोग उसके अनुगामी हैं, कार्य की रूपरेखा क्या रहेगी। कुछ समय पश्चात् उस शिष्य ने भी अपनी गुरु परम्परा को कायम रखने हेतु एक पंथ का निर्माण किया और उनके गुप्त संकेतों को अपने प्रमुख शिष्य को समयानुकूल बतलाया। ये सत्य प्रकट हुए। इस प्रकार और अधिक भविष्य कथन या संकेत देने वाले महान् आध्यात्मिक पुरुषों का उदय होता रहता है और इस परम्परा का अटूट तांता बना रहता है।

भविष्य कथन की यह परम्परा केवल हिन्दुओं में ही नहीं पायी जाती बल्कि बाइबिल में भी ऐसे संकेत देखे गये हैं। उनका विकास परम्परागत और सही रूप में नहीं होने के कारण प्राय: अधिकांश उक्तियाँ लुप्त हो गयी हैं। उपरोक्त कथन मौखिक रूप में देना चाहिये ताकि बुद्धिवादी, तर्कवादी और राजनैतिक लोग इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन या इसका दुरुपयोग न कर सकें।

गुरु किस प्रकार मार्गदर्शन करते हैं? गुरु से प्रेम का क्या अर्थ है?

गुरु का मार्ग दर्शन अचूक होता है। इसे प्राप्त करने के लिये शिष्य को अपनी अरुचि के कारण गुरु का त्याग नहीं करना चाहिये। कई बार शिष्य जब अपेक्षित समय में अपनी इच्छाओं की पूर्ति होते नहीं देखता या रोगग्रस्त रहता है अथवा गुरु की मदद को, गुरु की शिक्षाओं के भाव को समझने में असमर्थ रहता है तब वह निराश होकर गुरु को छोड़ देता है। ऐसी परिस्थिति में उसे गुरु का मार्गदर्शन प्राप्त नहीं होता। गुरु अपने शिष्यों के प्रति प्रेम तथा सतर्कता रखते हुए उसे अनेक मार्गों से ले जाते हैं। उसकी चेतना के विभिन्न स्तरों का निरीक्षण करते हैं। उसे सूचना देते हैं और सावधान करते हुए मार्गदर्शन करते हैं। उनके दूर रहने पर कोई अन्तर नहीं पड़ता। जिस प्रकार एक माता अपने बच्चे का दुनिया में कहीं भी रहने पर ख्याल रखती है, उसी प्रकार गुरु का मार्गदर्शन अहर्निश तथा प्रतिक्षण मिलता रहता है।

गुरु के प्रेम का अर्थ समझने के लिये हृदय की शुद्धि आवश्यक है। यह पारिवारिक प्रेम के समान नहीं है। गुरु-शिष्य का प्रेम उससे भी महान् तथा दीर्घ काल तक टिकने वाला है। यह सम्बन्ध तार्किक या भावनात्मक नहीं है। यह सूक्ष्म स्तर से सम्बन्धित है। गुरु-शिष्य का आध्यात्मिक सम्बन्ध मन के परे होने के कारण उसकी अनुभूति नित्य अनुभवगम्य है। जब शिष्य गुरु का स्मरण करता है तब उसका मन शान्त होता है। यह परस्पर संपर्क का सूचक है। जब यह सम्बन्ध मात्र भावनात्मक होता है तब उसको निद्रा नहीं आती, उसका मन अस्वस्थ तथा बेचैन रहता है। यह प्रेम परिपूर्ण होने से भावनात्मक प्रतिक्रिया नहीं होती क्योंकि भावना उच्च स्तरों पर क्रियाशील नहीं रहती, क्रियाशून्य होती है। इस प्रकार यह सम्बन्ध विकसित होने से मन का कार्य-क्षेत्र ज्ञात होता है, तदनन्तर इस दिव्य प्रेम की अनुभूति होती है। गुरु-शिष्य के प्रेम के विषय में शब्दों में कहना अत्यंत कठिन है, पर इसे अनुभव करना सरल है।

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट

शिष्य धर्म

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

पृष्ठ 91, ISBN: 978-81-86336-96-0

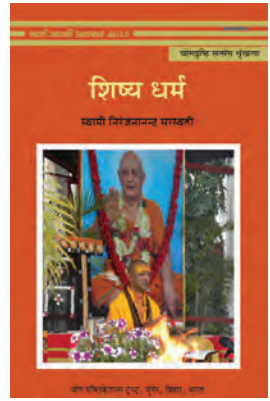

अगस्त 2010 के योगदृष्टि सत्संग कार्यक्रम में स्वामी निरंजनानन्द ने गुरु तत्त्व के निरूपण से प्रारम्भ कर, शिष्यत्व के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डाला। उनके सारगर्भित शब्द हमें अपने भीतर झाँककर यह जाँचने के लिए मजबूर करते हैं कि शिष्यत्व की कसौटी पर हम कितने खरे उतरते हैं, हमारे व्यक्तित्व में कौन-सी क्षमताएँ और कमियाँ हैं, और कैसे हम एक आदर्श शिष्य के गुणों का अर्जन कर अपना उत्थान कर सकते हैं।

उपलब्ध

पुस्तकों की मूल्य सूची एवं क्रयादेश प्रपत्र प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें –
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, गरुड विष्णु, पी.ओ. गंगा दर्शन, फोर्ट, मुंगेर, बिहार 811201
दूरभाष : 91–6344–222430, 9162783904

जवाब के लिए अपना पता लिखा, डाकटिकट लगा लिफाफा भेजें, अन्यथा आपके आवेदन पर विचार नहीं किया जाएगा

वेबसाइट और एप्प

www.biharyoga.net
बिहार योग पद्धति की मुख्य वेबसाइट पर बिहार योग, बिहार योग विद्यालय, बिहार योग भारती, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट तथा योग शोध संस्थान संबंधी जानकारियाँ उपलब्ध हैं।

सत्यम् योग प्रसाद
बिहार योग परम्परा की समस्त प्रकाशित कृतियाँ *satyamyogaprasad.net* वेबसाइट पर तथा *Android* एवं *iOS* उपकरणों पर एप्प के रूप में प्रस्तुत हैं।

यौगिक जीवनशैली साधना
biharyoga.net तथा *satyamyogaprasad.net* पर स्वस्थ जीवन हेतु यौगिक जीवनशैली साधना उपलब्ध है।

योगा एवं योगविद्या ऑनलाइन
www.biharyoga.net/bihar-school-of-yoga/yoga-magazines/
www.biharyoga.net/bihar-school-of-yoga/yogavidya/
योगा एवं योगविद्या पत्रिकाएँ *Android* एवं *iOS* उपकरणों पर एप्प के रूप में भी उपलब्ध हैं।

अन्य एप्प (Android एवं iOS उपकरणों के लिए)
- योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट की लोकप्रिय पुस्तक, ए.पी.एम.बी. अब सुविधाजनक एप्प के रूप में उपलब्ध है
- *Bihar Yoga* एप्प साधकों के लिए प्राचीन और नवीन यौगिक ज्ञान आधुनिक ढंग से पहुँचाता है
- *For Frontline Heroes* एप्प कोरोनावायरस के विरुद्ध अभियान में संघर्षरत कार्यकर्ताओं के लिए सरल योग अभ्यास प्रस्तुत करता है जो महामारी से उत्पन्न तनाव को सम्हालने में सहायक हैं

- Registered with the Department of Post, India
  Under No. MGR-01/2020-23
  Office of posting: Ganga Darshan TSO
  Date of posting: 1st-7th of every month
- Registered with the Registrar of Newspapers, India
  Under No. BIHHIN/2002/6306

issn 0972-5725

सभी ग्राहकों के लिए महत्त्वपूर्ण सूचना

आत्मस्वरूप

हरि: ॐ

हमें यह सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि जनवरी 2021 से मासिक योगा (अंग्रेज़ी) तथा योगविद्या (हिन्दी) पत्रिकाएँ सभी ग्राहकों, सहयोगियों, योगप्रेमियों, भक्तों तथा आध्यात्मिक साधकों के लिए निम्नांकित वेबसाइटों पर नि:शुल्क उपलब्ध हैं –

www.satyamyogaprasad.net

www.biharyoga.net

वर्तमान कोरोनावायरस महामारी और उससे उत्पन्न अनिश्चितता के कारण योगा और योगविद्या की प्रकाशित प्रतियाँ 2022 में ग्राहकों के लिए उपलब्ध नहीं रहेंगी। इसलिए 2022 में इन पत्रिकाओं के लिए नए सदस्यता आवेदन या पुरानी सदस्यता को बढ़ाने के आवेदन स्वीकार **नहीं** किए जा रहे हैं। अत: इन पत्रिकाओं के लिए सदस्यता आवेदन **मत** भेजिए।

पत्रिकाओं सम्बन्धी परिस्थिति की जानकारी आपको समय-समय पर मिलती रहेगी।

इस बीच श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती और श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती की शिक्षाओं को ग्रहण कर उन्हें अपनी दिनचर्या में आत्मसात् एवं अभिव्यक्त कीजिये ताकि आपका जीवन उदात्त और उन्नत बन सके।

आपके स्वास्थ्य, कल्याण और शांति के लिए श्री स्वामी सत्यानन्द जी के आशीर्वाद सहित,

ॐ तत्सत्

सम्पादक